भगवान् महावीर के २५ वीं शताब्दी समारोह के उपलक्ष में

तीर्थंकर ऋषभ
और
चक्रवर्ती भरत

लेखक की अन्य कृतियाँ

१—२४.	जैन कहानियां, भाग १ से २४	प्रत्येक	३.००
२५—३०.	जैन कहानियां, भाग २५ से ३०	,,	५.००
३१—३४.	तीन सौ साठ कहानियां, भाग १ से ४	,,	३.००
३५.	स्मृति को बढ़ाने के प्रकार		२.५०
३६.	जनपद विहार		५.००
३७.	प्रज्ञा : प्रतीति : परिणाम		३.००
३८.	अंक-स्मृति के प्रकार		१.००
३९.	ऐकाह्निक पत्रशती		०.४०
४०.	महावीर के सन्देश		०.४०
४१.	सत्यम् शिवम्		१.००
४२.	आत्म-गीत		०.५०
४३.	जम्बू स्वामी री लूर		०.४०
४४.	उत्स एक : धारा अनेक		४.००
४५.	तीर्थङ्कर ऋषभ तथा चक्रवर्ती भरत		७.००
४६.	अध्यात्म योगी महावीर		प्रेस में
४७.	महावीर की साधना के प्रकार		,,
४८—५४.	Jain Stories [Part I to 7]		,,

☆ संपादित - साहित्य ☆

● भरत मुक्ति ● आषाढ़ भूति ● श्रद्धेय के प्रति ● श्री कालू उपदेश वाटिका ● आचार्य श्री तुलसी ● आचार्य श्री तुलसी : जीवन दर्शन ● अहिंसा विवेक ● अहिंसा पर्यवेक्षण ● अणु से पूर्ण की ओर ● आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन ● अणुव्रत की ओर [भाग १, २] ● अन्तर्ध्वनि ● विश्व पहेलिका ● नया युग : नया दर्शन ।

अनुक्रम

☆

प्राक्कथन

★ विश्व क्या है ? यह कब बना ? बनने से पूर्व इसकी क्या स्थिति थी ? प्रारम्भिक सभ्यता क्या रही होगी ? उसमें किस तरह के विकास हुए होंगे ? इसका भविष्य क्या होगा ? कब प्रलय होगा ? प्रलय के बाद क्या होगा ? अन्तिम संस्कृति क्या रहेगी ? स्वभावतः ही ये प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में उभरते हैं। इनका समाधान इतिहास के पुरावों में खोजा गया, पर, वह हृदय में नहीं उतरा। ध्वंसावशेषों की मिट्टी व पत्थरों के टुकड़ों को प्रयोगशालाओं में लाया गया, वहां उन्हें परखा गया, फिर भी समाधान नहीं हुआ। दार्शनिकों ने भी अपने चिन्तन के आधार पर इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया। वह तार्किक था; अतः स्थायी और सर्वजन - ग्राह्य भी बना। विभिन्न दार्शनिकों ने यद्यपि इन प्रश्नों के उत्तर भी भिन्न - भिन्न दिये, पर, कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि वे उत्तर ही आज संस्कृति का रूप धारण कर चुके हैं।

★ इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण और रोचक स्थल संस्कृति का उद्गम और आदि विकास ही हुआ करता है। उसमें लेखक को अन्वेषण के लिए बहुत आयास उठाना पड़ता है, पर, पाठक को उसमें उतना ही आनन्द आता है। प्रस्तुत पुस्तक में जैन दृष्टिकोण से प्राग्-ऐतिहासिक उस संस्कृति का तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के जीवन-प्रसंगों के साथ आलेखन किया गया है।

★ मनुष्य व्यष्टि से समष्टि में क्यों आया ? इसके मन में लिप्सा क्यों उत्पन्न हुई ? लिप्सा के साथ द्वन्द्व व युद्ध क्यों बढ़ा ? अपराध क्यों बढ़े ? उनके निरोध के लिए दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव कैसे हुआ तथा अन्ततः [illegible] वृत्तियों का विकास क्यों व कब हुआ; आदि वस्तुओं का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

★ तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन परम्परा में तो इतिहास हैं ही, वैदिक परम्परा में ऋषभदेव आठवें अवतार व उनके ज्येष्ठ

प्राक्कथन

★ विश्व क्या है ? यह कब बना ? बनने से पूर्व इसकी क्या स्थिति थी ? प्रारम्भिक सभ्यता क्या रही होगी ? उसमें किस तरह के विकास हुए होंगे ? इसका भविष्य क्या होगा ? कब प्रलय होगा ? प्रलय के बाद क्या होगा ? अन्तिम संस्कृति क्या रहेगी ? स्वभावतः ही ये प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में उभरते हैं। इनका समाधान इतिहास के पुरावों में खोजा गया, पर, वह हृदय में नहीं उतरा। ध्वंसावशेषों की मिट्टी व पत्थरों के टुकड़ों को प्रयोगशालाओं में लाया गया, वहां उन्हें परखा गया, फिर भी समाधान नहीं हुआ। दार्शनिकों ने भी अपने चिन्तन के आधार पर इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया। वह तार्किक था; अतः स्थायी और सर्वजन - ग्राह्य भी बना। विभिन्न दार्शनिकों ने यद्यपि इन प्रश्नों के उत्तर भी भिन्न - भिन्न दिये, पर, कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि वे उत्तर ही आज संस्कृति का रूप धारण कर चुके हैं।

★ इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण और रोचक स्थल संस्कृति का उद्गम और आदि विकास ही हुआ करता है। उसमें लेखक को अन्वेषण के लिए बहुत आयास उठाना पड़ता है, पर, पाठक को उसमें उतना ही आनन्द आता है। प्रस्तुत पुस्तक में जैन दृष्टिकोण से प्राग्–ऐतिहासिक उस संस्कृति का तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के जीवन–प्रसंगों के साथ आलेख किया गया है।

★ मनुष्य व्यष्टि से समष्टि में क्यों आया ? उसके मन में वितृष्णा क्यों उत्पन्न हुई ? वितृष्णा के साथ छद्म व अहं क्यों बढ़ा ? अपराध क्यों बढ़े ? उनके निरोध के लिए दण्ड–व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव कैसे हुआ तथा अन्ततः साम्राज्यवादी वृत्तियों का विस्तार क्यों व कब हुआ; आदि पहलुओं का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

★ तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन परम्परा में तो श्लाघ्य हैं ही, वैदिक परम्परा में ऋषभदेव आठवें अवतार व उनके ज्येष्ठ

पुत्र भरत अनासक्त योगी माने गये हैं। दोनों ही परम्पराओं में बहुत कुछ सादृश्य है। बौद्ध - साहित्य में भी उनका उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही भारतवर्ष का नामकरण, भारत जाति आदि का विश्लेषण भी पुस्तक का महत्वपूर्ण अंश है।

* वर्तमान अवसर्पिणी काल में तीर्थंकर ऋषभदेव सामाजिक, व्यावहारिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं के प्रवर्तक थे और चक्रवर्ती भरत उनके व्यवस्थापक। पिता-पुत्र की यह युति अनेक अभिनव मंतों की उद्भावक थी। जैन परम्परा के अनुसार वह एक प्रकार का संक्रमण-काल था। उस समय की सारी स्थितियाँ बहुत ही सरल थीं। ऋषभदेव को उस समय अज्ञ जनता को शिक्षित करने [illegible]

: १ :

जैन वाङ्मय में

क्रम-ह्रासवाद और क्रम-विकासवाद

सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होगा; अतः उसके रचना-काल का प्रश्न उठता ही नहीं। वह शाश्वत है। क्रम-ह्रासवाद व क्रम-विकास-वाद के आधार पर समय व्यतीत होता है, युग बनते हैं और उनसे इस विश्व में क्रमशः अवसर्पण (अपकर्ष) और उत्सर्पण (उत्कर्ष) होता है। जैन शास्त्रों के अनुसार द्वापर, त्रेता, सतयुग और कलियुग की तरह सामूहिक परिवर्तन को 'कालचक्र' के नाम से अभिहित किया गया है। कालचक्र के मुख्यतः दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। दोनों ही विभाग फिर छः-छः भागों में विभक्त होते हैं। अवसर्पिणी के छः विभागों के नाम हैं—१. एकान्त सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषम-दुःषमा, ४. दुःषम-सुषमा, ५. दुःषमा और ६. दुःषम-दुःषमा। उत्सर्पिणी में इनका व्यतिक्रम होता है। इन छः विभागों को 'आरा' भी कहा जाता है। अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमशः अवनति होती है और उत्सर्पिणी में उन्नति। जब उन्नति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब अवनति आरम्भ होती है और जब अवनति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब उन्नति आरम्भ होती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के आरम्भ से एक तरह की नई सृष्टि का आरम्भ होता है और समाप्ति होने पर समाप्ति।

अवसर्पिणी की आदि व्यवस्था

अवसर्पिणी की आदि व्यवस्था का वर्णन शास्त्रकारों ने बहुत रोचक किया है। उन्होंने एक-एक बात पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा है—प्रथम विभाग एकान्त सुषमा में मनुष्यों का आयुष्य तीन पल्य का होता था और उनका शरीर तीन कोस-परिमाण। उनका समचतुरस्र संस्थान होता था और वज्रऋषभनाराच संहनन। वे अक्रोध, निरभिमान, निश्छल, [illegible], विनीत, मृदु, भोज्य व भक्ष्य पदार्थों का संग्रह न करने वाले, सन्तुष्ट, औत्सुक्य-रहित और सर्वदा धर्मपरायण होते थे। उस समय भूमि अत्यन्त स्निग्ध थी और मिट्टी चीनी से भी अतिशय मिष्ट; अतः नदियों में पानी भी मधुर व निर्मल ही होता था। पदार्थ स्निग्ध थे; अतः बुभुक्षा भी अल्प थी। तीसरे दिन केवल तुअर की दाल के प्रमाण थोड़ा-सा भोजन करते थे। यौगलिक व्यवस्था थी। माता-पिता की मृत्यु के छः मास पूर्व एक युग्म पैदा होता था और वही आगे चल कर पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाता था। विवाह, पूजन, प्रेतकार्य आदि नहीं थे; अतः व्यग्रता भी नहीं थी। पति-पत्नी के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं था। किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति भी नहीं थी। मनुष्य केवल युगल रूप में व्यष्टि ही था। कर्म-युग था, पर, कर्म-युग का प्रवर्तन नहीं हुआ था।

विकार अत्यल्प थे। जीवन की आवश्यकताएँ बहुत सीमित थीं। खेती, सेवा व व्यापार के आधार पर आजीविका चलाने की कोई आवश्यकता न थी। बुभुक्षा और प्यास की शान्ति, वस्त्र, मकान व पात्र की पूर्ति, प्रकाश व अग्नि के अभाव की पूर्ति, मनोरंजन व आमोद-प्रमोद के साधनों की उपलब्धि आदि जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ दस प्रकार

के कल्प[1] वृक्षों से पूर्ण होती थीं। इस प्रकार के वृक्षों को इस्लाम धर्म में द्रख्त तोबे और क्रिश्चियन धर्म में स्वर्गीय वृक्ष (Celestial tree) कहा गया है। अमेरिका[2] में अब भी ऐसे वृक्ष पाये जाते हैं, जिन्हें मिल्क ट्री, ब्रैड ट्री, लाइट ट्री आदि के नाम से पुकारा जाता है।

जन-संख्या बहुत कम थी और जीवन-यापन के साधन प्रचुर मात्रा में थे; अतः कलह, वैमनस्य या स्पर्धा नहीं होती थी। किसी के परस्पर स्वार्थ नहीं टकराते थे; अतः कुल, जाति या वर्ग भी नहीं बने। ग्राम या राज्य की तो कोई अवश्यकता भी न थी। सभी स्वेच्छाचारी व वनवासी थे। कोई शासक या शासित नहीं था और न कोई भी शोषक या शोषित। दास, प्रेष्य, कर्मचारी व भागीदार भी नहीं होते थे।

असत्याचरण, लूट-खसोट, लड़ना-झगड़ना व मार-काट नहीं थे। अब्रह्मचर्य सीमित था। नैसर्गिक आनन्द और शान्ति थी। धर्म और उसके प्रचारक भी नहीं थे। जीवन सहज धार्मिक होता था। विश्वासघात,

---

१. मद्याङ्ग वृक्ष—शारीरिक पौष्टिक पदार्थ,
भृताङ्ग वृक्ष—भाजन,
तूर्याङ्ग वृक्ष—विविध वाद्य,
दीपाङ्ग वृक्ष—दीपक का प्रकाश,
ज्योतिष्क वृक्ष—सूर्य या अग्नि का कार्य,
चित्राङ्ग वृक्ष—पुष्प,
चित्ररस वृक्ष—विविध भोजन,
मण्यङ्ग वृक्ष—आभूषण,
गेहकार वृक्ष—मकान की तरह आश्रय,
अनग्न वृक्ष—वस्त्र की पूर्ति।
—समवायांग सूत्र, स० १०

२. जैन मतसार पृ०, १२

प्रतिशोध, पिशुनता या आक्षेप आदि नहीं थे। हीनता और उन्नता के भावों का भी अभाव था। सफाई करने वाला वर्ग भी नहीं था।

हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट आदि सभी प्रकार के पशु होते थे, पर, मनुष्य उन्हें वाहन के रूप में प्रयुक्त नहीं करता था। गाय, भैंस, बकरी आदि दुधारू पशु भी होते थे, पर, उनका दूध नहीं निकाला जाता था; अत: किसी ने दूध का स्वाद भी कभी नहीं चखा था। गेहूं, चावल आदि धान्य बिना बोये ही उगते थे, पर, उन्हें उपयोग में ही नहीं लाया जाता था। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी भी किसी पर हमला नहीं करते थे। किसी प्रकार के शस्त्र भी नहीं थे। जीवन बहुत लम्बे होते थे। असामयिक मृत्यु नहीं होती थी। श्वास, ज्वर व महामारी आदि छोटी व बड़ी किसी प्रकार की भी व्याधि नहीं होती थी। इस प्रकार चार कोटाकोटि सागर[1] का एकान्त सुषमा नामक प्रथम विभाग समाप्त हुआ।

सभ्यता में परिवर्तन

अवसर्पिणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग भी क्रमशः बीत गया। सभी बातें ह्रासोन्मुख होने लगीं। पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थों की यथेच्छ उपलब्धि क्रमशः कम होती गई। आयुष्य भी तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य व एक पल्य का हो गया। भोजन की आवश्यकता भी तीसरे व दूसरे दिन होने लगी। शरीर का परिमाण भी घटने लगा। कल्प वृक्षों ने भी आवश्यकताएँ पूर्ण करना कुछ कम कर दिया।

तृतीय विभाग लगभग समाप्त हो रहा था। एक पल्य का केवल आठवां भाग अवशिष्ट था। यौगलिक व्यवस्था डोलने लगी। सरलता निरभिमान व निश्छद्म के स्थान पर जीवन में कुटिलता, अहं व छद्म प्रविष्ट होने लगे। कल्प वृक्षों के द्वारा अभीप्सित मिलना बहुत अल्प हो

---

१. दश कोटाकोटि पल्य का एक सागर होता है।

गया। भूमि की स्निग्धता व मधुरता में भी और अन्तर आ गया। आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं और उनकी पूर्ति के लिए संग्रह-वृत्ति भी बढ़ी। जब अनिवार्य आवश्यकताएँ पूर्ण न हुईं तो वाद-विवाद, लूट-खसोट व छीना-झपटी भी बढ़ी। सहज रूप में उगने वाले धान्य का भोजन के रूप में उपयोग होने लगा। क्षमा, शान्ति व सौहार्द आदि सहज गुण बदल गये। अपराधी मनोभावना के बीज अंकुरित होने लगे। असंख्य वर्षों के बाद ऐसी परिस्थिति हुई थी।

समष्टि जीवन के आरम्भ के निमित्त

अव्यवस्था व अपराध न हों, इसके लिए मार्ग खोजे जाने लगे। अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए अपने से समर्थ का आश्रय लिया जाने लगा। एक-दूसरे की निकटता बढ़ी और उसने सामूहिक जीवन जीने के लिए विवश कर दिया। उस सामूहिक व्यवस्था को 'कुल' के नाम से कहा गया।

तन्त्र के आरम्भ की आदि घटना व वाहन का उपयोग

मनुष्यों में अहंवृत्ति जागृत होने लगी थी; अतः उस 'कुल' का मुखिया कौन हो, यह प्रश्न भी सामने आया। पद-लिप्सा भड़कने लगी थी, परन्तु, उसके लिए किसी प्रकार का विग्रह उचित नहीं समझा जाता था। किसी सहज मार्ग की गवेषणा की जा रही थी। एक दिन एक विशेष घटना घटी। एक युगल स्वेच्छया वन में भ्रमण कर रहा था। सामने से एक उज्ज्वल व बलिष्ठ हाथी आ गया। दोनों की आंखें मिलीं। हाथी के हृदय में युगल के प्रति सहज स्नेह जागृत हुआ। उसे अपने गत भव की स्मृति हुई; जिससे उसने जाना, हम दोनों ही पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में वणिक् पुत्र थे और दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। यह सरल था; अतः यहाँ मनुष्य रूप में उत्पन्न हुआ है और मैं धूर्त—मायाचारी था; अतः इस पशु-योनि में आया हुआ हूँ। उसने अपने मित्र को, उसके न चाहने पर भी अपनी पीठ पर बैठा लिया। अन्य युगलों ने जब इस घटना को

देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ; क्योंकि इस अवसर्पण काल में यह युगल ही सर्वप्रथम वाहनारूढ़ हुआ था। हाथी बहुत विमल था; अतः उस युगल का नाम भी विमलवाहन प्रसिद्ध हो गया तथा उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन किया गया। इस प्रकार कुलकर की नियुक्ति हो जाने से सभी युगल विमलवाहन के आदेश को मानते और वह सबको व्यवस्था देता।

दण्ड-नीति की आवश्यकता

अपराधी मनोवृत्ति बढ़ती हुई कुछ रुकी। किन्तु, व्यवस्था देने मात्र से ही स्थिति नियन्त्रित न हुई। कुछ दण्ड-नीति की भी आवश्यकता अनुभव की गई। इससे पूर्व कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। उस स्थिति को निम्न श्लोक से अभिव्यक्त किया जा सकता है :

नैव राज्यं, न राजासीत्, न दण्डो, न च दाण्डिकः।
धर्मणैव प्रजाः सर्वा, रक्षन्तिस्म परस्परम्।

विमलवाहन के समय यह स्थिति बदल गई। कल्प वृक्षों ने अभीप्सित प्रदान करना लगभग बन्द कर दिया; अतः युगलों का उन पर अत्यधिक ममत्व बढ़ने लगा। एक युगल द्वारा अधिकृत कल्प वृक्ष का दूसरे युगल द्वारा बलात् उपयोग होने लगा और इस प्रकार व्यवस्था-भंग होने से विग्रह बढ़ने लगे। विमलवाहन ने सबको एकत्रित किया और अपने ज्ञान-वैशिष्ट्य से झगड़ा टालने की दृष्टि से, कुटुम्बियों में जिस तरह सम्पत्ति बाँटी जाती है, कल्प वृक्षों का बटवारा कर दिया।

हाकार नीति

कुछ दिन तक व्यवस्था ठीक चलती रही, पर, इसका भी अतिक्रमण होने लगा। विमलवाहन ने इसके प्रतिकार के लिए दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ किया। सर्वप्रथम हाकार नीति का प्रचलन हुआ। अपराधी को

खेदपूर्वक कहा जाता—'हा ! तुमने यह किया ?' अपराधी पानी-पानी हो जाता। उस समय इतना कथन भी मृत्यु-दण्ड का काम करता था। कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही। अपराध भी कम होते, व्यवस्था भी बनी रहती। किन्तु, आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में धीरे-धीरे अपराध बढ़ने लगे और प्रचलित दण्ड-व्यवस्था भी लोगों के लिए सहज बन गई।

माकार नीति

विमलवाहन के बाद उसका ही पुत्र चक्षुष्मान् दूसरा कुलकर हुआ। वह भी अपने पिता की तरह ही व्यवस्थाएं देता रहा। कभी अपराध बढ़ते और कभी कम होते। 'हाकार' दण्ड से सब कुछ ठीक हो जाता। चक्षुष्मान् के बाद जब उसका पुत्र यशस्वी तृतीय कुलकर बना; तब वैमनस्य, प्रतिशोध व अन्य अपराध भी बढ़ते गए। यशस्वी ने यह सोचकर कि एक औषधि से यदि रोगोपशान्ति नहीं होती तो दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिए; 'माकार नीति' का प्रचलन किया। अपराधी से कहा जाता—'और कभी ऐसा अपराध मत करना'। अल्प अपराधी को 'हाकार' और भारी अपराधी को 'माकार' का दण्ड दिया जाता।

धिक्कार नीति

यशस्वी और चतुर्थ कुलकर अभिचन्द्र के समय तक उक्त दो दण्ड-व्यवस्थाओं से ही काम चलता रहा। पांचवें कुलकर प्रसेनजित् को फिर इसमें परिवर्तन करना पड़ा। अपराधों की गुरुता बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में जिसे महान् अपराध कहा जाता, इस समय तक वह तो सामान्य कोटि में आ चुका था। युगल कामार्त्त, लज्जा व मर्यादा-विहीन होने लगे; इसलिए प्रसेनजित् ने हाकार और माकार के साथ 'धिक्कार नीति' का प्रचलन किया। इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता—'तुझे धिक्कार है, जो इस तरह के काम करता है'।

व्यवस्था से आगे समाज-व्यवस्था व राज्य-व्यवस्था का प्रवर्तन हो चुका था और व्यष्टि समष्टि में परिवर्तित होने लगी थी। नाना प्रकार के सामाजिक नियमन भी बन चुके थे। कुलकर-व्यवस्था में जहाँ कल्प वृक्षों द्वारा आवश्यकताएँ पूर्ण होती थीं, वहाँ ऋषभदेव के समय से ऐसा होना समाप्त हो गया था। क्रमशः असि, मषि, कृषि का विकास हो गया था और उसके आधार पर ग्राम-निर्माण, शासन-प्रणाली, दण्ड-व्यवस्था, वैवाहिक सम्बन्ध व उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रियों के कार्यों का विभाजन भी हो चुका था। इन विभिन्न आधारों से सहज निष्कर्ष निकलता है कि नाभि अन्तिम कुलकर थे और श्री ऋषभदेव मानवीय सभ्यता के आदि सूत्रधार।

जैन परम्परा के कुलकरों की तरह वैदिक परम्परा में भी सात मनु माने गये हैं। मनुस्मृति, अध्याय १, श्लो० २२-२३ में उनके नाम है: १. स्वायम्भू, २. स्वारोचिष, ३. उत्तम, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष और ७. वैवस्त। कुछ वैदिक शास्त्रों में सात भावी मनु भी बताए गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं: १. सावर्णि, २. दक्षसावर्णि, ३. ब्रह्मसावर्णि, ४. धर्मसावर्णि, ५. रुद्रसावर्णि, ६. रौच्यदेवसावर्णि और ७. इन्द्रसावर्णि।

कर्मयुग का आरम्भ

अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण होने लगी। यह समय यौगलिक सभ्यता व मानवीय सभ्यता का सन्धि-काल था। आयु, संहनन, संस्थान व शरीर-परिमाण आदि घटने लगे थे। तृतीय विभाग सुषम-दुःषमा समाप्त होने में केवल चौरासी हजार वर्ष अवशिष्ट थे। नाभि कुलकर के घर पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। माता ने चौदह स्वप्न देखे। उनमें प्रथम स्वप्न वृषभ का था। शिशु के वृक्षःस्थल पर वृषभ का लांछन भी था। वे सब में वृषभ—श्रेष्ठ थे; अतः उनका नाम वृषभनाथ—ऋषभदेव रखा गया। आगे चलकर समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था व धर्म-

व्यवस्था के आदि प्रवर्तक होने से वे आदिनाथ के नाम से भी विश्रुत हुए। सहजात कन्या का नाम सुमङ्गला रखा गया।

वंश-उत्पत्ति व उनके नामकरण

ऋषभदेव जब कुछ कम एक वर्ष के हुए, वंश का नामकरण किया गया। इन्द्र स्वयं इस कार्य के लिए आया। उसके हाथ में गन्ना था। ऋषभदेव उस समय नाभि कुलकर की गोद में थे। इन्द्र के अभिप्राय को जानकर उन्होंने उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाया; अतः वह वंश इक्षु+आकु (भक्षणे)=इक्ष्वाकु वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पहला इक्ष्वाकु वंश बना, ऐसा इस आधार से कहा जा सकता है। इसी तरह एक-एक घटना विशेष को लेकर पृथक्-पृथक् समूहों के पृथक्-पृथक् वंश बनते गये और नामकरण होता गया।

अकाल मृत्यु

श्री ऋषभदेव का बाल्य-जीवन बहुत ही आनन्द से बीता। धीरे-धीरे बड़े होने लगे। एक दिन विशेष घटना घटी। एक युगल अपने पुत्र व पुत्री को एक ताड़ वृक्ष के नीचे बैठाकर स्वयं कदलीवन में क्रीड़ा के लिए चला गया। दैवयोग से एक बड़ा फल टूटा और किसलय कोमल उस पुत्र पर पड़ा। उसकी असमय ही मृत्यु हो गई। यह पहली अकाल मृत्यु थी। यौगलिक माता-पिता ने अपनी उस लाड़ली कन्या का लालन-पालन किया। वह बहुत सुरूपा थी। उसके प्रत्येक अवयव से लावण्य टपकता था। कुछ महीनों बाद उसके माता-पिता का भी देहान्त हो गया। वह अकेली रह गई। उसका नाम सुनन्दा था। वह एकाकिनी यूथभ्रष्ट मृगी की तरह इधर-उधर भटकने लगी। कुछ युगलों ने कुलकर श्री नाभि के समक्ष यह सारा उदन्त कहा। श्री नाभि ने सुनन्दा को, यह कह कर कि यह ऋषभ की पत्नी होगी, अपने पास रख लिया।

विवाह-परम्परा

यौवन-प्रवेश पर ऋषभदेव का सहजात सुमङ्गला और सुनन्दा के साथ पाणि-ग्रहण हुआ। अपनी बहिन के अतिरिक्त दूसरी कन्या के साथ भी विवाह-सम्बन्ध हो सकता है, इसका यह पहला प्रयोग था। सुमङ्गला ने चवदह स्वप्न-पूर्वक भरत व ब्राह्मी को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबली व सुन्दरी को। इसके बाद क्रमशः सुमङ्गला के अठानवे[1] पुत्र और हुए।

राज्य-व्यवस्था का आरम्भ

प्राचीन मर्यादाएं विच्छिन्न होती जा रही थीं। तीनों ही दण्ड-व्यवस्थाओं की उपेक्षा होने लगी; अतः किसी भी प्रकार का नया विधान आवश्यक हो गया था। कल्प वृक्षों से प्रकृति-सिद्ध जो ईप्सित मिलता था, वह अपर्याप्त होने लगा। तृष्णा बढ़ने लगी, आवेश उभरने लगा, अहं जागृत होने लगा और छद्म खुलकर सामने आने लगा। शान्ति भंग होने लगी। जिन युगलों ने अपने जीवन में कभी लड़ाई, या वैमनस्य नहीं देखा था; उन्हें यह बहुत ही बुरा लगा। वे इन स्थितियों से घबरा गये। एक दिन वे ऋषभदेव के पास पहुंचे और सारी स्थिति उनसे निवेदित की। ऋषभदेव ने कहा—जो लोग मर्यादाओं का अतिक्रमण करते हैं, उन्हें दण्ड मिलना चाहिए। पहले भी ऐसा हुआ था और उसके प्रतिकार स्वरूप ही तीन प्रकार की दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था। अपराध अधिक बढ़ने लगे हैं; अतः उनके शमन व मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त अन्य दण्ड-व्यवस्था का भी अविर्भाव होना चाहिए। यह सब कुछ तो राजा ही कर सकता है।

युगलों ने पूछा—राजा कौन होता है और उसके कार्य क्या होते हैं?

ऋषभदेव ने कहा—विशिष्ट बुद्धि तथा शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति राजा होता है। उसके पास आततायियों को दण्ड देने के लिए चार

---

1. पुत्रों के नाम देखें, परिशिष्ट, संख्या—१

प्रकार की सेना होती है। उच्च सिंहासन पर बैठा कर सर्वप्रथम उसका अभिषेक किया जाता है। वह अपने बुद्धि-कौशल से अन्याय का परिहार और न्याय का प्रवर्तन करता है। शक्ति के सारे स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं; अतः वहां कोई मनमानी नहीं कर सकता।

हमारे में तो आप ही सर्वाधिक बुद्धिशाली व समर्थ हैं; अतः आप ही हमारे राजा बनें। आपको अब हमारी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; युगलों ने कहा।

यह मांग आप कुलकर श्री नाभि के समक्ष प्रस्तुत करें। वे आपको राजा देंगे; श्री ऋषभदेव ने युगलों से कहा। युगल मिल-जुलकर श्री नाभि के पास पहुंचे और आत्म-निवेदन किया। नाभि ने ऋषभदेव को राजा घोषित किया। युगलों ने उसे सहर्ष स्वीकार किया और ऋषभदेव के सम्मुख आकर कहने लगे—नाभि कुलकर ने आपको ही हमारा राजा बनाया है।

युगलों ने अपूर्व आह्लाद के साथ ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया। ऋषभदेव राजा बने और शेष जनता प्रजा। उन्होंने पुत्र की तरह प्रजा का पालन आरम्भ किया। राजा बनने के बाद ऋषभदेव पर व्यवस्था-संचालन का विधिवत् दायित्व आ गया। सारी प्राचीन परम्पराएँ जर्जरित हो चुकी थीं। आवास, भूख, शीत, ताप आदि की समस्याएँ आने लगी थीं। अराजकता बढ़ रही थी। जनता अतिभद्र थी। वह किसी भी प्रकार का कर्म नहीं जानती थी। ऋषभदेव के सम्मुख यह जटिल पहेली थी, पर, उन्होंने अपने ज्ञान-बल से उन सबका समाधान प्रस्तुत किया। आवास-समस्या के समाधान हेतु उस समय नगर व ग्राम बसाये गए। पहले-पहल अयोध्या का निर्माण हुआ और उसके अनन्तर अन्य नगरों व ग्रामों का। सज्जनों की सुरक्षा और दुर्जनों के दमन के निमित्त उन्होंने अपने मंत्रि-मंडल का निर्माण किया। चोरी, लूट-खसोट व दूसरों के अधिकारों का अपहरण न हो, इसके लिए आरक्षक वर्ग की स्थापना की। राज्य-शक्ति का कोई चुनौती न दे सके, इसके लिए गज, अश्व,

अग्नि और पात्र-निर्माण का आरम्भ

कुछ दिन बीते। एक दिन एक विशेष घटना घटी। वंश वृक्षों के परस्पर टकराने से अग्नि प्रकट हुई। उसने भयंकर रूप धारण कर लिया। तृण, काष्ठ व अन्य वस्तुएँ जलने लगीं। ऐसा किसी ने कभी नहीं देखा था। लोगों ने उसे रत्न-राशि समझा और उसे लेने के लिए हाथ फैलाए। उनके हाथ जलने लगे। सारे ही भयभीत होकर अपने राजा के पास पहुँचे। ऋषभदेव बोले – अब स्निग्ध-रूक्ष काल आ गया है; अतः अग्नि प्रकट हुई है। एकान्त स्निग्ध समय में अग्नि पैदा नहीं होती। इतने दिन अत्यन्त स्निग्ध समय था; अतः अन्न की पाचन-क्रिया में भी दुविधा होती थी और उससे अजीर्ण होता था। अब यह दुविधा नहीं रहेगी। तुम लोग सब जाओ और पूर्व विधि से तैयार किए हुए अन्न को उसमें पका कर खाओ। उसके आस-पास जो भी घास-फूस व अन्य सामग्री हो, उसे हटा दो।

सरलाशय मनुष्य दौड़े और उन्होंने पकाने के लिए अग्नि में अन्न रखा। किन्तु, अन्न तो सारा ही उसमें जलकर भस्म हो गया। बेचारे दौड़े-दौड़े फिर वहीं आये और कहने लगे—स्वामिन् ! वह तो बिल्कुल भूखा राक्षस है। हमने उसके समीप जितना अन्न रखा, कुक्षिभरी की तरह अकेला ही सब कुछ खा गया। हमें तो उसने कुछ भी वापस नहीं किया।

ऋषभदेव ने उत्तर दिया—इस तरह नहीं। पहले तुम पात्र बनाओ, फिर उसमें अन्न पकाओ और खाओ।

जनता ने पूछा—स्वामिन् ! पात्र कैसे बनाये जायेंगे।

ऋषभदेव उस समय हाथी पर सवार थे। उन्होंने आर्द्र मृत्तिका-पिण्ड मंगवाया। हाथी के सिर पर उसे रखा, हाथ से थपथपाया और उसका पात्र बनाकर सबको दिखलाया तथा साथ में शिक्षा भी दी कि इस विधि से तरह-तरह के पात्र बनाओ। उन्हें पहले अग्नि में पकाओ और

। अमनोज्ञ लगने लगे; अतः उस व्याधि से मुक्त करने के लिए नापित-
शिल्प का प्रशिक्षण दिया गया।

पांचों शिल्पों के प्रसरण के साथ-ही-साथ इनके सूक्ष्म भेद भी होते
ये और इस प्रकार प्रत्येक शिल्प के बीस-बीस अवान्तर भेद हो जाने
। सौ प्रकार का शिल्प समाज में प्रसिद्ध हो गया। इसके साथ घसियारे
। लकड़ी बेचने का काम भी एक व्यवसाय बन गया। खेती-बाड़ी की
यवस्थित पद्धति का व व्यापार के माध्यम से आवश्यक वस्तुओं की
ुलभता के सर्वांगीण स्वरूप का प्रशिक्षण भी दिया गया।

लोगों की जब पारस्परिक समीपता अधिक बढ़ी, तो एक-दूसरे के
ामाव से किसी का दमन और किसी का आरोहण भी होने लगा। इसका
यवस्थित विधान भी बन गया, जिसे आज की भाषा में समाज-शास्त्र
कहा जा सकता है। साम, दान, दण्ड और भेद के रूप में उसका विकास
हुआ और क्रमशः वह व्यवहार का माध्यम भी बन गया।

कृषि का प्रशिक्षण

भोज्य-सामग्री की पूर्ति पहले कल्प वृक्षों से होती थी। उस समय
जनसंख्या भी अल्प थी और वातावरण की स्निग्धता के कारण भोजन
की मात्रा भी कम व उसकी आवश्यकता भी कई दिनों से होती थी।
ज्यों-ज्यों वातावरण स्निग्धता से रूक्षता में बदलता गया, भूख भी शीघ्र
लगने लगी और भोजन की मात्रा भी बढ़ गई। लोग सहज रूप से उगने
वाले चावल, गेहूं व तृण आदि को खाने लगे। किन्तु, कुछ समय बाद
यह सामग्री भी अपर्याप्त व दुष्पाच्य होने लगी। कल्प वृक्ष के सुस्वादु
फलों के सम्मुख सहज उत्पन्न चावल, गेहूं व अन्य अन्न नीरस लगने लगे
थे, पर, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा भी तो नहीं था। उस समय
तक वर्षा भी पर्याप्त होती थी। बाढ़ व दुष्काल भी नहीं होते थे, किन्तु,
खेती करना कोई नहीं जानते थे; अतः अनाज की पैदावार नहीं थी।
किसी के पास खेती करने के औजार—साधन भी नहीं थे। उन्हें बनाना

भी वे नहीं जानते थे। ऋषभदेव ने यह सिखाया। खेती के योग्य ज[illegible] किस प्रकार तैयार की जाती है, किस तरह हल चलाये जाते हैं, कि[illegible] प्रकार के बीज बोये जाते हैं, कितना पानी व कब दिया जाता है, फ[illegible] उगने पर व तैयार होने पर क्या किया जाता है, आदि सब बातें उ[illegible] समय के मनुष्यों को ऋषभदेव ने बताई। इसीलिए आगे चलकर 'कृषि के देवता' व 'कृषिराज' आदि के रूप में पूजे गये। कृषि-देवता रूप में उनकी जो मूर्तियां बनीं, उनमें उनके शृंग भी दिखाये गये।

उस समय के लोग कितने भोले-भाले थे व उनको ऋषभदे[illegible] किस प्रकार प्रशिक्षित करते थे, जनश्रुति में इसकी एक मनोरंजक घट[illegible] मिलती है। कृषि-सम्बन्धी सारा प्रशिक्षण दे देने के बाद लोगों ने प्रचु[illegible] मात्रा में खेती करना प्रारम्भ किया। फसल अच्छी हुई। उसे का[illegible] गया। समस्या उपस्थित हुई कि नधाई कैसे की जाये? लोगों ने अप[illegible] दिमाग बहुत दौड़ाया, पर, कुछ भी नहीं सूझा। सारे ही मिलकर अपने स्वामी ऋषभदेव के समक्ष उपस्थित हुए और अपनी व्यथा कह सुनाई। ऋषभदेव ने उन्हें खलिहान की सारी विधि बतलाई। लोग निपुण होकर लौट आये। उन्होंने उसी विधि से काम आरम्भ किया, जो उन्हें बताई गई थी। एक साफ-सुथरे मैदान में सारा धान्य इकट्ठा किया गया और नधाई आरम्भ की गई। बैलों को भूख लग आई थी; अतः उन्होंने धान्य खाना आरम्भ कर दिया। थोड़ी देर तक निगरानी रखी गई, तो बैलों ने खाना बन्द कर दिया, पर, [illegible] अनाज में [illegible] नहीं भोजा गया। वे फिर खाने लगे। लोग परेशान हुए, ऋषभदे[illegible] पास आये और कहने लगे — [illegible] बैल सारा ही अनाज [illegible] और हमारे हाथ कुछ भी नहीं आयेगा। आप कोई [illegible] [illegible]

दी। बैलों ने उसे नहीं खाया। लोगों ने समझा, बैल नाराज हो गए हैं। हमने इन्हें खाने से रोका था; अतः अब ये नहीं खाते हैं। पानी रखा गया, तो बैलों ने पानी को नहीं पिया। दो, चार, दस, बारह घण्टे बीत गये। फिर घबराये हुए लोग ऋषभदेव के पास पहुंचे और कहा—स्वामिन्! बैल तो नाराज हो गये हैं। वे कुछ खाते-पीते नहीं हैं। अब क्या करें? यदि उन्होंने कुछ भी खाया-पीया नहीं, तो वे शीघ्र ही मर जायेंगे। ऋषभदेव ने ध्यानपूर्वक सोचकर पूछा—तुमने उनका मुंह खोला या नहीं? लोगों ने कहा—आपने हमें यह कब बताया था? ऋषभदेव बोले—जब मुंह बंधा है, वे खायेंगे भी कैसे? जल्दी जाओ और मुंह खोलो। सब ठीक हो जायेगा। लोगों ने वैसा ही किया और बैलों ने खाना-पीना आरम्भ कर दिया।

ऋषभदेव के आदेश से बारह घण्टे बैलों का मुंह बंधा रहा, खान-पान का विच्छेद हुआ; अतः उससे उनके कर्म-बन्ध हुआ और उसके परिणाम-स्वरूप साधु बनने के बाद बारह महीने तक उन्हें आहार-पानी उपलब्ध न हो सका।

अध्ययन व कला-विकास

जीवन की आवश्यकताओं को भरने के निमित्त विविध शिल्प व अग्नि का आविष्कार हुआ। अपराध न बढ़ें और जीवन सुखमय हो; इसके लिए राज्य-व्यवस्था का प्रचलन हुआ। जीवन और अधिक सरस व शिष्ट हो और व्यवहार अधिक सुगमता से चल सके; इसके लिए ऋषभदेव ने कला, लिपि व गणित के विविध अंगों का प्रशिक्षण भी दिया। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाओं[1] का व परम तत्त्व का ज्ञान दिया। बाहुबली को प्राणि-लक्षण का ज्ञान, ब्राह्मी को अठारह लिपियों[2] का ज्ञान व सुन्दरी को गणित का ज्ञान प्रदान किया। व्यवहार-साधन

१. देखें, परिशिष्ट संख्या—१
२. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

के लिए मान (माप) उन्मान (तोला, मासा आदि वजन), अवमान (गज, फुट, इञ्च, आदि) व प्रतिमान (छटांक, सेर, मन आदि) बताये। मणि आदि पिरोने की कला सिखाई।

व्यष्टि से समष्टि की ओर

विसंवाद—कलह उत्पन्न होने पर न्याय-प्राप्ति के लिए राज्याध्यक्ष के समक्ष जाने का विचार दिया। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए एक प्रकार के व्यवहार की स्थापना की। साम आदि नीति, बाहु आदि अनेक प्रकार की युद्ध-प्रक्रिया, धनुर्वेद, राजा की सेवा करने के प्रकार, चिकित्सा शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, गोत्रादिक का मिलना, ग्राम-नगर आदि का अधिग्रहण, किसी प्रयोजन विशेष से ग्रामवासियों का एकत्रित होना; आदि बातें भी ऋषभदेव ने ही सिखाईं। यहां आकर व्यष्टि एकदम टूट गई और समष्टि काफी मात्रा में विकसित हो गई। कुलकर-व्यवस्था में व्यष्टि अधिक थी और समष्टि का आरम्भ था। इस समय कुल, जातियां व समाज भी पृथक्-पृथक् बन गए। इस प्रणाली से जहां मनुष्य का जीवन कुछ [illegible] बना, [illegible] विकार [illegible]; वहां ममत्व, स्वार्थ व उससे प्रतिस्पर्धा आदि विकार बढ़ने लगा। पहले मनुष्य के समक्ष सारा प्राणि-जगत् [illegible] था, [illegible] था; वहां ममत्व का यह [illegible] —यह मेरा पिता है, भाई है, पुत्र है, माता है, [illegible]। इस प्रकार के कौटुम्बिक ममत्व के अनन्तर [illegible] व [illegible] का [illegible] हुआ।

[illegible]

[illegible]

क्योंकि हाकार, माकार और धिक्कार नीतियां असफल व शिथिल हो चुकी थीं। क्रमशः १. परिभाष, २. मण्डल बन्ध, ३. चारक और ४. छविच्छेद आदि दण्ड भी चले।[1]

१. परिभाष—सीमित समय के लिए नजरबन्द करना। क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहां से मत जाओ' ऐसा आदेश देना।

२. मण्डल बन्ध—नजरबन्द करना। संकेतित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।

३. चारक—जेल में डालना।

४. छविच्छेद—हाथ, पैर आदि काटना।

ये चार दण्ड-नीतियां कब चलीं, इसमें थोड़ा-सा मतभेद है। कुछ विचारकों की मान्यता है कि प्रथम दो नीतियां ऋषभदेव के समय में चलीं और दो भरत के समय में। कुछ विद्वानों की मान्यता है, ये चारों नीतियां भरत के समय चलीं। अभयदेवसूरि ने स्थानांग[2] वृत्ति में यह उल्लेख किया है कि चार प्रकारों में से प्रथम दो प्रकार ऋषभदेव के समय में चले और शेष दो भरत के समय में, ऐसा भी माना जाता है। आवश्यक-निर्युक्तिकार[3] आचार्य भद्रबाहु के अभिमतानुसार बन्ध (बेड़ी का प्रयोग) और घात (डण्डे आदि का प्रयोग) ऋषभदेव के समय प्रारम्भ हो गये थे और मृत्यु-दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ।

कर्नाटक विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष डा० बी० ए० सोलीटोर भी आचार्य भद्रबाहु के अभिमत की पुष्टि करते हुए लिखते हैं:

---

१. परिभासणा उ पढमा, मंडलबंधम्मि होइ बीया तु।
चारग छविछेदावि, भरहस्स चउव्विहा नीई॥
—स्थानांगवृत्ति, ७।३।५५७

२. आद्य द्वयमृषभकाले अन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये।
—स्थानांगवृत्ति, ७।३।५५७

३. गाथा २१७, २१८

"ऋषभदेव ने न्याय-विभाग की सुव्यवस्थित स्थापना की और कैद का प्रचलन भी किया।...जब भरत ने यह अनुभव किया कि जनता अपराध से बाज नहीं आ रही है, तो उसने शारीरिक यातना, कैद और मृत्यु-दण्ड भी प्रारम्भ किया।"[1]

हेमचन्द्राचार्य[2] का अभिमत है कि धनुर्वेद और संग्राम के साथ-साथ बन्ध, घात और वध का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव के युग में हो गया था। किन्तु, जिनसेनाचार्य[3] का अभिमत है कि चक्रवर्ती भरत के युग में अपराध अधिक बढ़ने लगे थे; अतः वध व बन्धन आदि के रूप में उन्होंने शारीरिक दण्ड की भी व्यवस्था की।

आचार्य मलयगिरि का अभिमत है कि भरत के साम्राज्य-काल में चारों ही दण्ड-नीतियाँ शासन-संचालन का अंग बन गई थीं, किन्तु, परिभाष और मण्डलबन्ध का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव के समय में हो गया था तथा शेष दो दण्ड-नीतियों का आरम्भ उस समय हुआ, जब कि भरत को दिग्विजय से अयोध्या की ओर लौटते हुए माणवक[4] निधि की उपलब्धि हुई थी।

---

१. ऋषभदेव founded the other institution of punishment and inprisaonment.......while it was only भरत, who, on realizing that men could not be weaned from criunes, instituted Corporal punishment, imprisionment, and even death.

—आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, अ० ३, पृ० ३५

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १ सर्ग २, श्लो० ९६६

३. शरीर दण्डनञ्चैव वधबन्धादिलक्षणम्।
नृणां प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम्॥

—आदिपुराण, पर्व ३, श्लो० २१६

४. सेसो उ दण्डनीति, माणवगनिहीउ होइ भरहस्स।

—आवश्यक, मलयगिरि, प्रथम खण्ड

— अभिधान राजेन्द्र, भा० ३, पृ० ५९५-५९६

विभिन्न मतवादों के होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह समय काफी नाजुक हो गया था। उस समय तक प्रचलित धिक्कार नीति अन्य दो नीतियों की तरह प्राचीन और सहज हो गई थी और सन्तुलन बिगड़ रहा था। अपराध बढ़ने लगे थे, अतएव राजतन्त्र का उदय हुआ था। उस स्थिति में किसी भी तरह की दण्ड-नीति का आरम्भ न हुआ हो, यह सहज ही बुद्धिगम्य नहीं होता।

दण्ड-व्यवस्थाओं की कठोरताओं से स्थितियों, भूलों और अन्य पद्धतियों से जीवन सुचारु रूप से चलने लगा।

विवाह-सम्बन्ध में नई परम्परा

यौगलिक परम्परा में भाई-बहिन ही पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। ऋषभदेव का सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण होने से यह परम्परा टूटी। इस नई परम्परा को सुदृढ़ रूप देने के लिए उन्होंने भरत का विवाह बाहुबली की बहिन सुन्दरी के साथ और भरत की बहिन ब्राह्मी का विवाह बाहुबली के साथ विधिपूर्वक किया। इन विवाहों का अनुसरण कर जनता ने भिन्न गोत्र में उत्पन्न कन्या का उसके माता-पिता द्वारा दान होने पर ही ग्रहण करना, यह नई परम्परा चल पड़ी[1]; ऐसा उपाध्याय विनय विजयजी का अभिमत है। आचार्य श्री भिक्षु[2] का अभिमत है कि ब्राह्मी और सुन्दरी आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं। जब तक भगवान्

---

१. युग्मिधर्मनिषेधाय भरताय ददौ प्रभुः।
सोदर्यां बाहुबलिनः सुन्दरीं गुणसुन्दरीम्॥
भरतस्य च सोदर्यां ददौ ब्राह्मीं जगत्प्रभुः।
भूपाय बाहुबलिने तदादिजनताप्यथ॥
भिन्नगोत्रादिकां कन्यां दत्तां पित्रादिभिर्मुदा।
विधिनोपायत प्रायः प्रावर्तत तथा ततः॥

—श्रीकाललोकप्रकाश, सर्ग ३२, श्लोक ४७-४९

२. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल १६-१७

लगीं। उन्होंने एक वर्ष तक दान दिया। चैत्र कृष्णा अष्टमी के चतुर्थ प्रहर व उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में दो दिन के उपवास में प्रव्रजित हुए। उन्होंने चार-मुष्टि[1] लुंचन किया। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजा व राज-कुमारों ने भी अनुगमन करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण की।

दीक्षित होते ही उन्होंने अत्यधिक कठिन आचार का अनुष्ठान आरम्भ किया। उसके अनुसार वे प्रतिज्ञाबद्ध हुए कि जब तक चार घनघाती कर्मों का विच्छेद कर केवल ज्ञान प्राप्त न कर लूँगा, तब तक किसी को उपदेश नहीं दूँगा। मौन रहूँगा। केवल स्थान की अनुमति ग्रहण करने के निमित्त, आहार-पानी की गवेषणा के निमित्त या मार्ग-पृच्छा के निमित्त वचन-प्रयोग करूँगा। अपने बारे में पूछे जाने पर केवल इतना ही कहूँगा कि मैं श्रमण हूँ। रोग उत्पन्न होने पर किसी प्रकार का उपचार नहीं करूँगा। मनुष्य, तिर्यंच या देव-सम्बन्धी अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्गों में पूर्णतः सहिष्णुता रखूँगा। भूख, प्यास, शीत, ताप, दंश-मंश, रति-अरति आदि परीषहों से भीत होकर देह-रक्षा के निमित्त किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करूँगा। देहधारी होते हुए भी सदा त्यक्त देह होकर विहरण करूँगा।

दान की अनभिज्ञता

ऋषभदेव परिवार, समाज व देश की भूमिका से सर्वथा ऊपर उठ गये। उन्होंने ही व्यष्टि से समष्टि का आरम्भ किया था और वे ही उससे पृथक् होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मार्ग पर अग्रसर हो गये। उनका कोई परिवार नहीं रहा, किसी के प्रति ममत्व नहीं रहा। वे अपने अहं का भी विसर्जन कर श्रेय के विस्तीर्ण पथ के पथिक बन गये। उन्होंने अयोध्या से प्रस्थान कर दिया। माता का उनके प्रति प्रगाढ़ स्नेह था। भरत व बाहुबली आदि की असीम पितृ-भक्ति थी। सभी के नेत्र भक्ति-

---

१. चउ मुट्ठीहिं लोअं करेइ।

—जम्बूदीपपण्णत्ति, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालाधिकार

अश्रुओं से छलछलाये हुए थे। उन्होंने किसी एक की ओर न देखा और न कुछ सुना। वे निस्पृह व निर्मोह भाव से ग्रामानुग्राम विहरण करने लगे। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार साधु शिष्य भी उनका अनुगमन करने लगे। जहाँ वे जाते, वे भी जाते; जो वे करते, वे भी करते। ऋषभदेव उन्हें किसी भी प्रकार का निर्देश, संकेत व प्रेरणा नहीं करते।

दिन व महीने बीतने लगे। ऋषभदेव अपने ध्यान, स्वाध्याय व कायोत्सर्ग में लीन रहते। तपश्चरण करते। तपस्या में अत्यधिक लीनता के कारण वे बाबा के नाम से भी विश्रुत हो गये। कभी-कभी गोचरी (भिक्षा) के लिए भी जाते। किन्तु, दान देना कोई नहीं जानते थे। अपने घर ऋषभदेव को पधारे देखकर लोग फूले नहीं समाते थे। उन्हें वे अपने भाग्य-विधाता राजा के रूप में ही देखते थे। उनका शब्दों से स्वागत करते व नाना प्रकार की वस्तुएं भेंट करना चाहते। कोई पवन गति अश्व भेंट करता, कोई सुरूपा कन्या भेंट करता, कोई आभूषण, विभिन्न रंगों के वस्त्र, फूलमालाएं, स्वर्ण, बहुमूल्य रत्न अर्पित करता; पर, भोजन व पानी नगण्य वस्तु होने से उसके दान की स्मृति किसी को भी नहीं होती। सारे ही अपने घर में रही हुई बहुमूल्य व सुन्दर वस्तु उपहृत करना चाहते। भोजन व पानी तो उनके सामने कुछ भी महत्व नहीं रखता था। किन्तु, बाबा उनमें से कुछ भी स्वीकार नहीं करते। वे एक घर से दूसरे घर व इसी क्रम से सर्वत्र घूमते। घर पर आकर जब वे खाली हाथों ही लौट जाते; घर वालों को बहुत खटकता, किन्तु, अनुनय के अतिरिक्त वे क्या कर सकते थे। बाबा अदीनमना रहते। वे किसी से कुछ भी न बोलते। बहुत बार लोग उन्हें अपनी इच्छा के बारे में पूछते, पर, दृढ़प्रतिज्ञ बाबा अपनी मर्यादा से लेशमात्र भी विचलित नहीं होते।

नाना तापसों व मतवादों की उत्पत्ति

जन-समुदाय आहार-दान-विधि से अनभिज्ञ था और बाबा याचना-पूर्वक कुछ भी न लेने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे। अनशन में ही समय बीतने

लगा। चार हजार साथी शिष्य भूख-प्यास से घबरा गये। यद्यपि वे भी बाबा के पीछे-पीछे ही घूमते। जैसे बाबा करते, उसी तरह करने का प्रयत्न करते, किन्तु, उनकी तरह वे बुभुक्षा-विजेता नहीं बने। संयम का विवेक उनमें था नहीं। वे तो उन्हें अपना स्वामी समझकर 'गतानुगतिको लोकः' के अनुसार प्रवृत्त हुए थे। परस्पर सोचने लगे--बाबा तो कड़वे फलों की तरह मधुर फलों को भी नहीं खाते। खारे पानी की तरह मीठा पानी भी नहीं पीते। शरीर के लिए बिलकुल लापरवाह हैं। न स्नान करते हैं, न विलेपन करते हैं और न वस्त्र, अलंकार या फूल ही धारण करते हैं। रात को न नींद लेते हैं और न बैठते ही हैं। हम उनके अनुचर बने हैं, फिर भी न हमें कुछ आदेश करते हैं, न इंगित करते हैं और न कभी कुछ पूछते हैं। ऐसा लगता है, जैसे कि हम इनके अपराधी हों।

एक दिन कुछ मुनि एकत्रित होकर कच्छ, महाकच्छ जो बड़े मुनि थे; उनके पास आये। संवेदना-भरी वाणी में कहने लगे—ये बाबा तो भूख-प्यास के विजेता हैं, पर, हम तो अन्नकीट व मेंढक हैं। बाबा शीत-ताप से नहीं घबराते। ऐसा लगता है, जैसे कि इन्होंने तो शरीर को ही पूर्णतः वातानुकूलित बना लिया हो। किन्तु, हम तो बन्दर की तरह शीत में कांपने वाले हैं। बाबा रात में एक क्षण भी नींद नहीं लेते, पर, हम तो निद्रालु अजगर हैं। समुद्र को अपने सामर्थ्य से उड़कर पार करने वाले गरुड़ पक्षी का जैसे कोई कौआ अनुगमन कर लेता है, हमने तो वैसे ही बाबा के घोर व्रतों का अनुसरण कर लिया है। सामर्थ्य की अवहेलना कर जो हमने घोर अनुष्ठान आरम्भ किया था, वह हमारे लिए अब जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है। हम तो इस दुर्धर्ष पथ का अवलम्बन नहीं कर सकते। हम आपसे यह परामर्श पाने आये हैं कि क्या अब हमें अपने राज्य में पुनः चले जाना चाहिये? हमारे राज्य तो आज-कल भरत के अधीन हैं। क्या हमें भरत का आश्रय ले लेना चाहिए? बाबा को अकेले ही छोड़ कर चले जाने में उसका भी भय सामने है। आप बाबा के अति

निकट रहने वाले हैं; अतः उनका इंगित और अभिप्राय अच्छी तरह समझते हैं।

कच्छ, महाकच्छ ने उत्तर दिया – बाबा की गहराई तो समुद्र के समान अगम्य है। पहले तो वे बोलते थे, बातचीत करते थे, आदेश-उपदेश भी देते थे; अतः उन्हें समझा जा सकता था, किन्तु, आजकल तो वे पूर्णतः मौन हैं। उन्हें समझ पाना हमारे लिए भी उतना ही दुःसाध्य है, जितना कि आप सब के लिए। आप लोगों के समान ही हम भी कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। सब की समान ही दशा है; अतः जैसा सभी चाहें, हम भी वैसा ही करने को समुद्यत हैं।

सब की ही सम्मिलित एक सभा हुई और उसमें यह निर्णय लिया गया कि अब पुनः राज्य में नहीं जाना चाहिए। गंगा नदी के समीपवर्ती जगलों में ही हम सबको रहना चाहिए। वहाँ किसी के लिए भी कोई दुविधा नहीं होगी। इस सर्वसम्मत निर्णय के आधार पर सभी एक ही दिशा में चले। न कोई किसी के अधीन और न कोई किसी का अधिनेता। स्वेच्छया जंगलों में घूमते, कन्द, मूल व फल खाते और गंगा का मीठा पानी पीते। किसी ने जटा रखनी आरम्भ कर दी, तो किसी ने शिखा रखना भी। कोई एकदण्डी कहलाया, तो कोई त्रिदण्डी। कोई कन्दाहारी बना, कोई मूलाहारी, तो कोई फलाहारी। इस तरह नाना तापस[1] और नाना वेष बन गये[2] और उनके आधार पर उनके पृथक्-पृथक् विचार बने, जो आगे चलकर आग्रह का रूप धारण कर लेने पर विनयवाद, अज्ञानवाद, क्रियावाद व अक्रियावाद आदि तीनसौत्रेसठ[3] दर्शनों व दर्शनाभासों के रूप में प्रसिद्ध हुए।

---

१. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

२. विस्तार के लिए देखें; पद्मानन्दमहाकाव्यम्, सर्ग १३, श्लोक ११ से ४१

३. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

प्रारम्भ में ये संन्यासी वल्कल का वस्त्र धारण करने से चलते-फिरते वृक्ष जैसे लगते थे। ये गृहस्थों के यहाँ निष्पन्न आहार को वमित आहार के समान समझते थे और उसे ग्रहण नहीं करते थे। तपस्या में रत रहते थे। कभी चतुर्थ भक्त (एक दिन का उपवास) करते, तो कभी षष्ठ भक्त (दो दिन का उपवास) करते। पारणे में भी वृक्षों से स्वतः गिरे हुए पत्तों या फलों का ही आहार करते तथा भगवान् ऋषभदेव का ध्यान करते थे।

त्रिदण्डी तापस

नाना मतवादों को मानने वाले तापसों की उत्पत्ति व विस्तरण को उपरोक्त आदि घटना बनी। एक परम्परा[1] के अनुसार जब भगवान् ऋषभदेव को केवल ज्ञान पैदा हुआ, कच्छ और महाकच्छ को छोड़कर अन्य सारे शुद्ध होकर पुनः प्रव्रजित हो गए। मरीचि से त्रिदण्डी तापसों का आरम्भ हुआ और वे धीरे-धीरे नाना मतवादों में विभक्त होकर क्रमशः तीनसौ त्रेसठ की संख्या तक पहुँच गए।

मरीचि भरत का पुत्र था। सुर-असुरों द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव के केवल ज्ञान की महिमा को देखकर वह भी अपने पांचसौ भाइयों के साथ निर्ग्रन्थ बना था। वह ग्यारह ही अंगों का ज्ञाता था और प्रतिदिन भगवान् ऋषभदेव के साथ उनकी छाया की तरह विहरण करता था। एक बार भयंकर गर्मी से वह परिक्लान्त हो गया। सारा शरीर पसीने से तर-बतर हो गया। पसीने व मलिन वस्त्रों के कारण उसके शरीर से दुर्गन्ध उछलने लगी। प्यास के मारे प्राण निकलने लगे। गर्मी व तत्सम्बन्धी अन्य परीषहों से वह इतना पराभूत हुआ कि श्रामण्य की सामान्य पर्याय से भी नीचे खिसक गया तथा अन्य नाना संकल्प-विकल्पों का शिकार हो गया। उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ : "प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का मैं पौत्र हूँ। अखण्ड छः खण्ड के विजेता प्रथम

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ६

में वह मूल तथा उत्तर-गुण-सम्पन्न साधु-धर्म का ही उपदेश करता। जब उसे जनता यह पूछती कि तुम उसके अनुसार आचरण क्यों नहीं करते, तो वह अपनी असमर्थता स्वीकार करता। उसके उपदेश से प्रेरित होकर यदि कोई भव्य दीक्षित होना चाहता, तो वह उसे भगवान् के समवसरण में भेज देता और भगवान् उसे दीक्षा-प्रदान कर देते।

सांख्य दर्शन का आविर्भाव

भगवान् ऋषभदेव की सेवा में विहरण करते हुए मरीचि का काफी समय बीत चुका। एक बार वह रोगाक्रांत हुआ। परिचर्या के अभाव में वह अत्यन्त पीड़ित हुआ। उसकी परिचर्या करनेवाला कोई व्यक्ति नहीं था; अतः वेदना से पराभूत होकर उसने अपने साथियों को बढ़ाने का सोचा। संयोग की बात थी, एक बार भगवान् ऋषभदेव देशना (प्रवचन) दे रहे थे। कपिल नामक एक राजकुमार भी परिषद् में उपस्थित था। उसे वह रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। उसने इधर-उधर अन्य साधुओं की ओर भी दृष्टि दौड़ाई। सभी साधुओं के बीच विचित्र वेषवाले उस त्रिदण्डी मरीचि को भी उसने देखा। वह वहाँ से उठकर उसके पास आया। धर्म का मार्ग पूछा, तो मरीचि ने स्पष्ट उत्तर दिया : "मेरे पास धर्म नहीं है। यदि तू धर्म चाहता है, तो प्रभु का ही शरण ग्रहण कर।" वह पुनः भगवान् ऋषभदेव के पास आया और धर्म-श्रवण करने लगा। किन्तु, अपने दूषित विचारों से प्रेरित होकर वह वहाँ से पुनः उठा और मरीचि के पास आकर बोला—क्या तुम्हारे पास जैसा-तैसा भी धर्म नहीं है? यदि नहीं है, तो फिर यह संन्यास का चोगा कैसे?

"दैवयोग से यह भी मेरे जैसा ही मालूम होता है। चिरकाल से सदृश विचार वाले का मेल हुआ है। मेरे असहाय का यह सहायक हो।" इन विचारों में निमग्न मरीचि ने उत्सूत्र प्ररूपणा करते हुए कहा : "यहाँ भी धर्म है और यहाँ भी।" इस मिथ्यात्वपूर्ण संभाषण से उसने उत्कट संसार बढ़ाया। कपिल को दीक्षित कर उसने अपना सहयोगी बनाया और

उसे पच्चीस तत्त्वों का उपदेश देकर अलग मत की स्थापना की। आगे चलकर कपिल का शिष्य आसुरी व आसुरी का शिष्य सांख्य बना। कपिल व सांख्य ने मरीचि द्वारा बताए गए उन पच्चीस तत्त्वों की विशेष व्याख्या की, जो एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रसिद्ध हुआ। कपिल और सांख्य उस दर्शन के विशेष व्याख्याकार हुए हैं; अतः वह दर्शन भी कापिल दर्शन या सांख्य दर्शन के नाम से विश्रुत हुआ। मरीचि तो केवल संस्थापक के रूप में ही रहा।

जिनसेनाचार्य का अभिमत है कि जब भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा-ग्रहण की थी, तब उनके पारिवारिक मरीचि ने कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजा व राजकुमारों के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी और जब वे सारे साधना से भ्रष्ट हुए, वह भी भ्रष्ट हो गया और उत्सूत्र प्ररूपणा करने लगा।[1] भगवान् ऋषभदेव को जब केवल ज्ञान प्राप्त हुआ, तब मरीचि को छोड़कर कच्छ, महाकच्छ आदि अन्य सभी ने पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली।[2]

नमि व विनमि द्वारा राज्य-याचना

नमि व विनमि कच्छ व महाकच्छ के पुत्र थे और ऋषभदेव को इतने प्रिय थे कि वे इन्हें दत्तक पुत्र की तरह समझते थे। जब ऋषभदेव के साथ कच्छ व महाकच्छ ने दीक्षा-ग्रहण की थी, ये कहीं अन्यत्र गये हुए थे। वहाँ से लौटते हुए उन दोनों ने अपने-अपने पिता को गंगा नदी के समीपवर्ती वन में संन्यासी के वेष में घूमते हुए देखा। उन्हें उन दोनों की

---

१. मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूयमास्थितः।
मिथ्यात्ववृद्धिमकरोद् अपसिद्धान्तभाषितैः॥

—आदिपुराण, पर्व १८, श्लोक ६१

२. मरीचिवर्ज्याः सर्वेपि तापसास्तपसि स्थिताः।
भट्टारकान्ते सम्बुद्धय महाप्राव्राज्यमास्थिताः॥

—आदिपुराण, पर्व २४, श्लोक १८२

वह स्थिति देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा, यह क्यों हुआ और कैसे हुआ ? एक दिन था, जबकि इनके शरीर पर महीन वस्त्र रहते थे और आज वल्कल के वस्त्र हैं। एक दिन था, जबकि इनके शरीर पर विभिन्न सुगन्धित तेलों का मर्दन व नाना उत्तम द्रव्यों का विलेपन होता था और आज ये धूल से सने हैं। एक दिन था, जबकि इनके केश फूलों से सज्जित रहते थे और आज वट-शाखाओं की तरह जटा रूप हैं। एक दिन ये हाथियों पर सवारी करते थे और आज स्वयं पादचारी हैं। वे इस तरह विचारों में डूबते-तैरते अपने-अपने पिता के पास गये और आश्चर्य के साथ अपनी जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं।

कच्छ व महाकच्छ ने अपने पुत्रों को भरत के राज्य-ग्रहण व बाबा के प्रव्रजित होने और उनके साथ स्वयं के प्रव्रजित होने की सारी घटना सुनाई। बाबा के अतुल धैर्य और साहस की बातें भी सुनाईं। अपने विषय में सुनाते हुए उन्होंने कहा—भूख-प्यास, शीत-ताप आदि कष्टों से हम तो घबरा गये। हमारे से वह दुष्कर साधना न हो सकी। फिर भी पुनः गृहस्थ बनना हमें स्वीकार नहीं था; अतः हम इस तपोवन में रहने लगे।

नमि व विनमि बोल पड़े—बाबा ने जब सबको समान रूप से राज्य का वितरण कर अधिकार दे दिया, तो केवल हमें ही कोरा क्यों छोड़ा गया ? हम अभी जाते हैं और उनसे राज्य का प्रसाद प्राप्त करते हैं। वे दोनों, जहाँ बाबा ध्यानस्थ खड़े कायोत्सर्ग कर रहे थे, आये। दोनों ने ही उनकी निःसंग व सौम्य आकृति को देखा। वे बोल पड़े—"वाह ! बाबा तुमने खूब किया। हम दोनों को तो कहीं दूर भेज दिया और पीछे से भरत आदि को सारा राज्य बाँट दिया। हमारे लिए भी तो कुछ व्यवस्था कर आये हैं या नहीं ? लगता है, गौ के खुर के बराबर भी भूमि हमें नहीं दी गई। दी भी कैसे जाती ? हम कोई तुम्हारे जन्मजात पुत्र थोड़े ही थे। दत्तक पुत्रों के साथ तो ऐसा ही व्यवहार हुआ करता है। हम तो उधर से (पिता की सम्पत्ति से) भी गये और इधर से

(आपकी सम्पत्ति से) भी गये। बताइये, अब हमारे जीवन का क्या आधार होगा ? किन्तु, चिन्ता की कोई बात नहीं, बाबा ! अब भी कृपा कर दो और बचा-खुचा जो कुछ भी हो, हमें दे दो। हम तो उसे भी आपका प्रसाद समझ कर स्वीकार कर लेंगे।"

बाबा नहीं बोले। उन्होंने अपना ध्यान नहीं तोड़ा। किन्तु, नमि व विनमि दोनों ही वहां आसन लगाकर बैठ गये। सोचने लगे, हमारी भक्ति से बाबा अवश्य प्रसन्न होंगे। हमारा कर्त्तव्य तो इनकी सेवा बजाना है। जब समय आयेगा, परिपाक होगा और फल मिलेगा। जहां बाबा खड़े ध्यान कर रहे थे, वहाँ धूलि न उड़े, इसलिए वे कमल पत्तों के दोनों में सरोवर का पानी लाते और वहाँ छिड़कते। प्रातःकाल सुगन्धित पुष्प लाते और बाबा के चरणों में उपहृत करते। हाथ में तलवार लेकर बाबा के दोनों ओर दोनों खड़े रहते। प्रातः, मध्याह्न, सायं व रात को प्रणाम कर अपनी याचना को उच्च स्वर में बोलकर दुहराते।

नमाज का आरम्भ

कुछ विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि नमाज के आरम्भ की यही आदि घटना बनी है। उनका कहना है कि इस्लाम धर्म के अनुसार सृष्टि की आदि में एक ही मनुष्य जाति थी और उसे सन्मार्ग पर चलाने के लिए बाबा आदम ने धर्मोपदेश दिया। यह आदम नबी का बेटा रसूल ही था, जिसको खुदा ने अपना उपदेश जनता तक पहुँचाने के लिए पैदा किया था। नबी नाभि का तथा रसूल ऋषभ का अपभ्रंश है। सामाजिक, न्यायिक व धार्मिक नाना परम्पराओं के प्रवर्तक होने के कारण भगवान् ऋषभदेव को आदिनाथ या आदम बाबा भी कहा जाता है। उक्त अभिमत की पुष्टि मैराजुलनबूत नामक मुसलमानी पुस्तक से भी हो जाती है, जिसमें स्पष्ट लिखा है कि "बाबा आदम हिन्दुस्तान में पैदा हुए थे।" भारतवर्ष में आदम बाबा के नाम से भगवान् ऋषभदेव विशेषतः विश्रुत हैं; अतः विद्वानों की कल्पना भी सहज ही इस निश्चय

तक पहुँच जाती है। नमि व विनमि द्वारा प्रणाम करने का समय तथ याचना दुहराने का साष्टांग प्रकार भी लगभग वही था, जो आजकल नमाज पढ़ने वालों का है। नाम-साम्य तथा प्रकार-साम्य कल्पना को निश्चय के किनारे तक पहुँचने के लिए विवश कर देते हैं।

एक दिन नागकुमारों का अधिपति धरणेन्द्र भी बाबा को नमस्कार करने आया। उसने सरलाशय दोनों ही कुमारों को वहां याचना करते हुए देखा। धरणेन्द्र द्वारा अपना परिचय व उद्देश्य पूछे जाने पर उन्होंने अपनी सारी घटना बताई। धरणेन्द्र ने कहा—जब बाबा ने बारह महीने तक यथेच्छित दान दिया था, तब तुम कहाँ चले गये थे? अब तो बाबा निःसंग, निष्परिग्रही व हर्ष-शोक विप्रमुक्त हो गये हैं। न तो इनका कोई परिवार रहा है और न इनके पास भौतिक परिग्रह भी। ये आत्मस्थ हो गये हैं; अतः अध्यात्म-चिन्तन ही इनका मुख्य विषय बन गया है।

नमि व विनमि ने कहा—ये हमारे स्वामी हैं और हम इनके सेवक हैं। हम तो इनकी सेवा करते रहेंगे व अपनी मांग दुहराते रहेंगे। सेवक को कभी यह चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि स्वामी के पास कुछ है या नहीं?

धरणेन्द्र ने कहा—अब तो भरत के पास जाओ। वह अवश्य तुम्हें राज्य देगा, सत्कृत करेगा और भावी जीवन का कुछ प्रबन्ध करेगा। वह भी बाबा का पुत्र होने से बाबा के समान ही पूज्य हो जाता है।

नमि व विनमि ने इस चर्चा को समाप्त करने के अभिप्राय से कहा—बाबा का शरण छोड़कर भरत के समक्ष जाना वैसा ही है, जैसे कि कल्प वृक्ष को छोड़कर करील की छाया में जाना। बाबा हमें कुछ देंगे या नहीं, इसकी चिन्ता आप छोड़ दीजिए। हमारी भक्ति में यदि आकर्षण होगा, तो बाबा भी पसीजेंगे और हमें वरदान देंगे।

धरणेन्द्र दोनों की सेवा-भावना से बहुत प्रभावित हुआ। बोला—बाबा का आशीर्वाद तो कोई विरल भाग्यवान् ही प्राप्त कर सकता है।

विद्याधरों की गौरेय, गांधार, मानव, भूमितुण्डक, मूलवीर्यक, श्वपाकक, मातंग आदि सोलह[1] जातियाँ भी हुईं। आठ जातियों के विद्याधर नमि के राज्य में रहे और आठ जातियों के विद्याधर विनमि के राज्य में। दोनों ही कुमार चतुर्विध पुरुषार्थ के द्वारा वहाँ सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

प्रथम दानी

भगवान् ऋषभदेव को प्रव्रजित हुए एक वर्ष पूरा होने लगा। ध्यान, स्वाध्याय व तपश्चरण से उनका शरीर कृश हो गया। अनवरत वर्षी तप से उनके शरीर का रक्त सूखने लगा, मांस-पेशियाँ नहीं के बराबर हो गईं व चमड़ी काली पड़ने लगी; फिर भी शरीर-बल के समक्ष आत्म-बल ने हार नहीं मानी। उनकी साधना का वेग प्रतिदिन बढ़ता ही गया। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए वे हस्तिनापुर पधारे। बाहुबली के पौत्र व सोमप्रभ के पुत्र श्रेयान्सकुमार ने उसी पश्चिम रात में अर्ध निद्रित अवस्था में एक स्वप्न में देखा कि श्यामल बने हुए स्वर्ण गिरि को मैं दूध से भरे हुए घट से अभिषिक्त कर उज्ज्वल बना रहा हूँ। इसी रात में सुबुद्धि नामक सेठ ने भी स्वप्न में देखा कि श्रेयान्सकुमार ने सूर्य से निकली हुई सहस्र किरणों को पुनः सूर्य में प्रतिष्ठित किया; जिससे वह अत्यधिक प्रकाशित होने लगा। सोमप्रभ राजा ने भी अपने स्वप्न में देखा कि श्रेयान्सकुमार के सहयोग से अनेक शत्रुओं द्वारा सर्वतः घिरे हुए राजा ने विजय प्राप्त की। तीनों ने ही स्वप्न-फल के सम्बन्ध से परस्पर विमर्षण किया; किन्तु, किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके।

श्रेयान्सकुमार अपने आवास के ऊपरी गवाक्ष में बैठा स्वप्न का चिन्तन कर रहा था। उसे इस बात की प्रसन्नता थी कि तीनों ही स्वप्नों का मुख्य आधार वह था। उसके द्वारा कोई महान् कार्य होगा; रह-रह कर ये विचार उसके मस्तिष्क में उभर रहे थे। राज-पथ की ओर अनायास ही उसकी नजर पड़ी। भगवान् ऋषभदेव का भी उसी समय उस मार्ग

---

१. देखें, परिशिष्ट संख्या--१

यहाँ आते। अपने वत्सल के प्रति उनके मन में ग्लानि हुई। मां के मुँह से एक ही ध्वनि निकल रही थी—हाय! क्या पता था कि लाला भोजन के लिए भी दर-दर घूम रहे हैं।

पुत्र-विरह की व्याकुलता

भगवान् ऋषभदेव को उग्रतप तपते हुए व घोर साधना करते हुए वर्षों ही बीत गये। जंगल या सुनसान स्थान ही उनकी तपोभूमि थे। गिरि-गुफाओं व शून्यागारों के एकान्त निर्जन वातावरण में वे ध्यान लगाते। समाधि में अपनी आत्मा को भावित करते। एक स्थान पर अधिक दिन नहीं ठहरते। शहरों में या बस्ती में जब कभी महीनों बाद भिक्षा ग्रहण करनी होती, वे आते। वे माया के मोह से उपरत थे। पुत्रों के प्रति उनका प्यार अपनी भूमिका से बहुत आगे बढ़ चुका था। राज्य-लिप्सा उन्हें अभिभूत नहीं करती थी। वे एक निर्मोह, निस्पृह व निःसंग का जीवन जी रहे थे। उनके प्राण शरीर में टिके हुए थे, पर, उनकी आत्मा उस बन्धन को पार कर चुकी थी। अनुराग विराग में परिणत हो चुका था और विराग उनका सहज धर्म बन चुका था। वे सतत विहरणशील थे। कभी वे अयोध्या के समीपवर्ती सरयू को अपना समाधि-स्थल बनाते, तो कभी भारत की उत्तरी सीमा के प्रहरी हिमालय (कैलाश) की तराई में रही तक्षशिला के वन-प्रान्तरों को। आदिवासी बहली, केकय, डोंब, यवन आदि सभी उनकी पावन साधना के स्थल बन चुके थे। सब की ही उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी।

गगनचुम्बी राजप्रासाद में एक दिन महामाता मरुदेवा आनन्द-मग्न बैठी थी। आस-पास की कुछ समवयस्क वृद्धाओं के साथ बातें कर रही थी। छोटी गोष्ठी-सी हो गई। सभी एक दूसरी को अपने सुख-दुःख की बातें कह रही थीं और आत्मीयता के साथ सुन भी रही थीं। उनका पारस्परिक सहज स्नेह वार्तालाप में रस उण्डेल रहा था। बच्चों के भरण-पोषण, उनके स्वभाव व सहज चापल्य का प्रकरण चल पड़ा।

सभी वृद्धाएं हर्षातिरेक में अपने-अपने लाड़लों के गुण गाने लगीं। इस श्रुति ने महामाता के मन में आकस्मिक विषाद उत्पन्न कर दिया। उनकी आंखें डबडबा आईं और बोलते-बोलते गला रुंध गया। उन्हें अपने प्रिय पुत्र ऋषभदेव का स्मरण हो आया। वे अपनी सहेलियों को सम्बोधित करती हुई बोल पड़ीं—तुम तो अपने पुत्रों व पौत्रों को अपने-अपने आंगन में देखकर खिल रही हो व उनकी तुतली वाणी को सुनकर आह्लादित हो रही हो, पर, मेरा पुत्र जो कि सबका भाग्य-विधाता था, आज कहां है, क्या कर रहा है, किस स्थिति में है, कोई नहीं जानता। वे माताएं धन्य हैं, जो अपने पुत्रों को, लता जैसे किसलय-कोमल पुष्पों से अपने को पल्लवित करती है; अपने नयनों से निहारती हैं और उनके क्रिया-कलाप का प्रत्यक्ष अनुभव कर पाती हैं। मैं तो इस सुख से वंचित हो गई हूं। प्रतिक्षण ऋषभ के कार्य-कलाप याद आते हैं, जो मेरे सम्मुख हुआ करते थे। उसके वर्तमान जीवन के रेखाचित्र भी सामने आते हैं, तो छाती भर जाती है और दिल अकुलाने लगता है। एक दिन था, जब कि मैं प्रतिदिन मनुहारें कर-कर उसे भव्य भोजन खिलाती थी। आज वह अभोजन के समान भिक्षा भोजन करता होगा। मैं हमेशा यह ध्यान रखती थी, उसने क्या खाया है, क्या खाना है, कौन-सा भोजन उसके अनुकूल है व कौन-सा प्रतिकूल; पर, अब तो उसके खाने-पीने का कोई ठिकाना ही नहीं। मैं उसे सर्दी-गर्मी से सदा सावधान करती थी, पर, अब उसकी सार-संभाल करने वाला कौन है? उसके मस्तक पर चांद की चांदनी जैसा उज्ज्वल व मनोहारी छत्र रहता था, वारांगनाएँ चंवर डुलाती रहती थीं, पर, अब तो सूर्य का आतप उसका छत्र व डंस-मंस आदि ही उसके चंवर हैं। वह मस्त हाथियों पर सवारी करता था, नगर-रक्षक व अंग-रक्षकों से आवेष्टित शहर में रहता था और अब वह बटोही की तरह सिंह, श्वापदों से भरे सघन जंगलों में अकेला घूमता है। मैंने तो उसकी प्रतीक्षा में पलकें बिछा रखी हैं, पर, उसे मेरी सुध ही नहीं है। इतने वर्षों में कभी आया भी नहीं और मैं, सुख में

उन्हें अपनी भूल का विशेष अनुभव हुआ और शान्त, विनीत व हृदयस्पर्शी शब्दों में निवेदन किया—"माताजी ! क्षमा करो। छद्मस्थ की भूल हो जाया करती है। आप कुछ अन्यथा न सोचें। मैं अभी जाता हूँ और आपके आदेश को क्रियान्वित करता हूँ।"

हर्ष-संवाद

कुछ उन्मन से भरत महामाता के महल से उतर आये। उनके चेहरे पर स्पष्टतः विषाद झलक रहा था। वे अपने सभा-भवन में पहुँचे। विचार-मग्न संवाद-प्राप्ति का उपाय सोच ही रहे थे; द्वारपाल ने यमक और शमक के आगमन से भरत को सूचित किया। वे दोनों ही अत्यन्त प्रसन्न थे और अपने स्वामी को हर्ष-संवाद सुनाने आये थे। यमक ने कहा—महाराज ! पुरीमताल नगर के शकटानन उद्यान में केवल ज्ञान[1] प्राप्त होने के अनन्तर भगवान् ऋषभदेव अपनी कुसुम वाटिका में पधार गये हैं। शमक ने निवेदन किया—स्वामिन् ! आयुधशाला में चक्र रत्न[2] उत्पन्न हुआ है।

आचार्य भिक्षु का निरूपण है कि भरत को उक्त दो हर्ष-संवादों के साथ पौत्र-प्राप्ति[3] का हर्ष-संवाद भी प्राप्त हुआ था। आचार्य जिनसेन[4] का अभिमत है कि भरत को उस समय तीन ही हर्ष-संवाद प्राप्त हुए थे; किन्तु, तीसरा संवाद पौत्र-प्राप्ति का न होकर पुत्र-प्राप्ति का था। इन संवादों की मत-भिन्नता का सम्बन्ध तीर्थ-स्थापना की घटना से जुड़ता है। प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि इसी दिन पुत्र या पौत्र की प्राप्ति

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३, श्लो० ५१२
२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३, श्लो० ५१३
३. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल १८, गा० १६ से १९
४. श्रीमान् भरतराजर्षिः बुबुधे युगपत्त्रयम्।
गुरोः कैवल्यसम्भूतिं सूतिञ्च सुतचक्रयोः॥
—महापुराण, पर्व २४, श्लो० २

बन्धी कषाय-चतुष्क का क्षय हुआ। प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान में प्रवेश हुआ। क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। प्रत्याख्यानावरणी व अप्रत्याख्यानावरणी कषाय-चतुष्क की समाप्ति हुई, तो सप्तम गुणस्थान तक पहुँच गई। सामायिक चारित्र का उदय हुआ। अष्टम गुणस्थान से क्षपक श्रेणी का अवलम्बन किया और क्रमशः वेद समाप्त किये। सूक्ष्मसम्पराय चारित्र प्राप्त किया व बारहवें गुणस्थान में पहुँच कर मोह कर्म को समाप्त किया। अपूर्व करण के क्रम से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति हुई और घाती त्रिक की समाप्ति से तेरम गुणस्थान में केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। भावों की उज्ज्वलता बढ़ती जा रही थी और आयु की परिसमाप्ति भी हो रही थी। शैलेशी अवस्था में पहुँचीं और योगों के निरोध से अन्तकृत् केवली के रूप में सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनीं। हाथी पर सवार थीं। गृहस्थ का वेष था। पुत्र को कड़े-कड़े उपालम्भ देने की मन में आकांक्षा थी। किन्तु, विचारों के परिवर्तन ने जीवन को नूतन परिवर्तन प्रदान किया और उसके फलस्वरूप महामाता मरुदेवा इस अवसर्पिणी काल-चक्र में प्रथम सिद्ध हुई। इस सारी प्रक्रिया में इतना अल्प समय लगा कि लिखने या कहने में उससे बहुत समय की अपेक्षा होती है।

मृतक का सत्कार

एक ओर महामाता विचारों से क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर मुक्त बन रही थीं और दूसरी ओर भगवान् ऋषभदेव समागत जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। प्रवचन के बीच महामाता के लिए बाबा का वाक्य निकला 'मरुदेवा भगवई सिद्धा' भगवती मरुदेवा सिद्ध हो गई है। जनता यह सुनकर सन्न रह गई। सबकी दृष्टि पीछे मुड़ी और उन्होंने गजारूढ़ के रूप में महामाता के अन्तिम दर्शन किये। भरत को उनकी मृत्यु से हार्दिक दुःख हुआ, पर, जब उन्हें यह पता चला कि वे सिद्ध हुई हैं, सान्त्वना भी मिली। देवों ने उनके मृत शरीर का सत्कार[1] किया,

---

१. एतस्यामवसर्पिण्यां सिद्धोऽसौ प्रथमस्ततः।
सत्कृत्य तद्वपुः क्षीरनीरधौ न्यदधेऽमरैः ॥५३१

बन्धी कषाय-चतुष्क का क्षय हुआ। प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान में प्रवेश हुआ। क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। प्रत्याख्यानावरणी व अप्रत्याख्यानावरणी कषाय-चतुष्क की समाप्ति हुई, तो सप्तम गुणस्थान तक पहुँच गईं। सामायिक चारित्र का उदय हुआ। अष्टम गुणस्थान से क्षपक श्रेणी का अवलम्बन किया और क्रमशः वेद समाप्त किये। सूक्ष्मसम्पराय चारित्र प्राप्त किया व बारहवें गुणस्थान में पहुँच कर मोह कर्म को समाप्त किया। अपूर्व करण के क्रम से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति हुई और घाती त्रिक की समाप्ति से तेरम गुणस्थान में केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। भावों की उज्ज्वलता बढ़ती जा रही थी और आयु की परिसमाप्ति भी हो रही थी। शैलेशी अवस्था में पहुँचीं और योगों के निरोध से अन्तकृत् केवली के रूप में सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनीं। हाथी पर सवार थीं। गृहस्थ का वेष था। पुत्र को कड़े-कड़े उपालम्भ देने की मन में आकांक्षा थी। किन्तु, विचारों के परिवर्तन ने जीवन को नूतन परिवर्तन प्रदान किया और उसके फलस्वरूप महामाता मरुदेवा इस अवसर्पिणी काल-चक्र में प्रथम सिद्ध हुईं। इस सारी प्रक्रिया में इतना अल्प समय लगा कि लिखने या कहने में उससे बहुत समय की अपेक्षा होती है।

मृतक का सत्कार

एक ओर महामाता विचारों से क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर मुक्त बन रही थीं और दूसरी ओर भगवान् ऋषभदेव समागत जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। प्रवचन के बीच महामाता के लिए बाबा का वाक्य निकला 'मरुदेवा भगवई सिद्धा' भगवती मरुदेवा सिद्ध हो गई है। जनता यह सुनकर सन्न रह गई। सबकी दृष्टि पीछे मुड़ी और उन्होंने गजारूढ़ के रूप में महामाता के अन्तिम दर्शन किये। भरत को उनकी मृत्यु से हार्दिक दुःख हुआ, पर, जब उन्हें यह पता चला कि वे सिद्ध हुई हैं, सान्त्वना भी मिली। देवों ने उनके मृत शरीर का सत्कार[1] किया,

---

१. एतस्यामवसर्पिण्यां सिद्धोऽसौ प्रथमस्ततः।
सत्कृत्य तद्वपुः क्षीरनीरधौ निदधेऽमरैः ॥५३१

बन्धी कषाय-चतुष्क का क्षय हुआ। प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान में प्रवेश हुआ। क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। प्रत्याख्यानावरणी व अप्रत्याख्यानावरणी कषाय-चतुष्क की समाप्ति हुई, तो सप्तम गुणस्थान तक पहुँच गईं। सामायिक चारित्र का उदय हुआ। अष्टम गुणस्थान से क्षपक श्रेणी का अवलम्बन किया और क्रमशः वेद समाप्त किये। सूक्ष्मसम्पराय चारित्र प्राप्त किया व बारहवें गुणस्थान में पहुँच कर मोह कर्म को समाप्त किया। अपूर्व करण के क्रम से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति हुई और घाती त्रिक की समाप्ति से तेरहवें गुणस्थान में केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। भावों की उज्ज्वलता बढ़ती जा रही थी और आयु की परिसमाप्ति भी हो रही थी। शैलेशी अवस्था में पहुँचीं और योगों के निरोध से अन्तकृत् केवली के रूप में सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनीं। हाथी पर सवार थीं। गृहस्थ का वेष था। पुत्र को कड़े-कड़े उपालम्भ देने की मन में आकांक्षा थी। किन्तु, विचारों के परिवर्तन ने जीवन को नूतन परिवर्तन प्रदान किया और उसके फलस्वरूप महामाता मरुदेवा इस अवसर्पिणी काल-चक्र में प्रथम सिद्ध हुईं। इस सारी प्रक्रिया में इतना अल्प समय लगा कि लिखने या कहने में उससे बहुत समय की अपेक्षा होती है।

मृतक का सत्कार

एक ओर महामाता विचारों से क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर मुक्त बन रही थीं और दूसरी ओर भगवान् ऋषभदेव समागत जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। प्रवचन के बीच महामाता के लिए बाबा का वाक्य निकला 'मरुदेवा भगवई सिद्धा' भगवती मरुदेवा सिद्ध हो गई है। जनता यह सुनकर सन्न रह गई। सबकी दृष्टि पीछे मुड़ी और उन्होंने गजारूढ़ के रूप में महामाता के अन्तिम दर्शन किये। भरत को उनकी मृत्यु से हार्दिक दुःख हुआ, पर, जब उन्हें यह पता चला कि वे सिद्ध हुई हैं, सान्त्वना भी मिली। देवों ने उनके मृत शरीर का सत्कार[1] किया,

१. एतस्यामवसर्पिण्यां सिद्धोऽसौ प्रथमस्ततः।
सत्कृत्य तद्वपुः क्षीरनीरधौ निदधेऽमरैः ॥५३१

नहीं किया; अतः कार्य भी नहीं बना । आज आदेश किया, तो काम भी बन गया है । आप तैयार हों । हम सभी उन्हें नमस्कार करने व उनका उपदेश सुनने के लिए चलते हैं ।

सारा अन्तःपुर, सभी राजकुमार, चारों ही प्रकार की सेना व हजारों अन्य नागरिकों के साथ भरत महामाता के पीछे-पीछे भगवान् ऋषभदेव के समवसरण के सन्निकट पहुंचे । महामाता ने अपने लड़ाले को दूर से ही निहारा, तो आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा । वे तो कल्पना कर रही थीं, जब मैं वहाँ पहुँचूंगी; मेरा स्वागत होगा, दुःख-सुख की बातें होंगी । किन्तु, बाबा ने तो पलक उठाकर भी नहीं देखा । उनकी सारी कल्पनायें विलीन व दूसरे ही संकल्प-विकल्पों में परिणत हो गई । उनके मन में आया, ऋषभ ! तुझे माता की ममता को इस प्रकार ठुकराना तो नहीं चाहिए था । कम-से-कम एक बार भी उसकी गहराई को अवश्य आंकना चाहिए था । मेरे मन में तो बड़ी उमंगें थीं और उनसे प्रेरित होकर ही तो मैं तेरे पास आई थी । तेरी इस निस्पृहता का कारण तो मेरी समझ से बाहर का विषय बन रहा है ।

प्रथम सिद्ध

ज्यों-ज्यों महामाता निकट पहुँचती जा रही थी; उनके विचारों में भी ज्वार आता जा रहा था । किन्तु, अचानक उसमें नया मोड़ आया । उन्होंने अपने आपको सम्बोधित करते हुए ही कहा—री ! तू क्या सोच रही है ? ऋषभ तो अब बहुत ऊँचा उठ चुका है । ममता से समता में और राजत्व से आत्मत्व में स्थित हो चुका है । माता, पुत्र, कलत्र, परिवार आदि के बन्धन से उपरत है । तू तो इस अपरिमेय को इस प्रकार परिमिति में सीमित कर रही है । तेरे मन में बन्धन है; अतः इसको भी इसमें समेट रही है पर, यह सर्वथा भूल है ।

परिणामों की उज्ज्वलता बढ़ी । आत्मा की सहज ऋजुता ने उसमें सहयोग किया । सत्यं शिवं, सुन्दरम् के चिन्तन का द्वार खुला । अनन्तानु-

बन्धी कषाय-चतुष्क का क्षय हुआ। प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान में प्रवेश हुआ। क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। प्रत्याख्यानावरणी व अप्रत्याख्यानावरणी कषाय-चतुष्क की समाप्ति हुई, तो सप्तम गुणस्थान तक पहुँच गईं। सामायिक चारित्र का उदय हुआ। अष्टम गुणस्थान से क्षपक श्रेणी का अवलम्बन किया और क्रमशः वेद समाप्त किये। सूक्ष्मसम्पराय चारित्र प्राप्त किया व बारहवें गुणस्थान में पहुँच कर मोह कर्म को समाप्त किया। अपूर्व करण के क्रम से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति हुई और घाती त्रिक की समाप्ति से तेरम गुणस्थान में केवल ज्ञान को उपलब्धि हुई। भावों की उज्ज्वलता बढ़ती जा रही थी और आयु की परिसमाप्ति भी हो रही थी। शैलेशी अवस्था में पहुँचीं और योगों के निरोध से अन्तकृत् केवली के रूप में सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनीं। हाथी पर सवार थीं। गृहस्थ का वेष था। पुत्र को कड़े-कड़े उपालम्भ देने की मन में आकांक्षा थी। किन्तु, विचारों के परिवर्तन ने जीवन को नूतन परिवर्तन प्रदान किया और उसके फलस्वरूप महामाता मरुदेवा इस अवसर्पिणी काल-चक्र में प्रथम सिद्ध हुईं। इस सारी प्रक्रिया में इतना अल्प समय लगा कि लिखने या कहने में उससे बहुत समय की अपेक्षा होती है।

मृतक का सत्कार

एक ओर महामाता विचारों से क्षपक श्रेणी में आरूढ़ होकर मुक्त बन रही थीं और दूसरी ओर भगवान् ऋषभदेव समागत जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। प्रवचन के बीच महामाता के लिए बात्रा का वाक्य निकला 'मरुदेवा भगवई सिद्धा' भगवती मरुदेवा सिद्ध हो गई हैं। जनता यह सुनकर सन्न रह गई। सबकी दृष्टि पीछे मुड़ी और उन्होंने गजारूढ़ के रूप में महामाता के अन्तिम दर्शन किये। भरत को उनकी मृत्यु से हार्दिक दुःख हुआ, पर, जब उन्हें यह पता चला कि वे सिद्ध हुई हैं, सान्त्वना भी मिली। देवों ने उनके मृत शरीर का सत्कार[1] किया,

---

१. एतस्यामवसर्पिण्यां सिद्धोऽसौ प्रथमस्ततः।
सत्कृत्य तद्वपुः क्षीरनीरधौ निदधेऽमरैः॥५३१

वर्ना की ओर उसे क्षीर सागर में विसर्जित कर दिया। मृत शरीर की सत्कारपूर्वक संस्कार-क्रिया की यह आदि घटना थी। इससे पूर्व यौगलिक व्यवस्था में ऐसा नहीं होता था। क्योंकि उस समय केवल एक युगल की ही समष्टि हुआ करती थी। न परिवार था, न समाज और न मिलना-जुलना; अतः युगल की समाप्ति पर उनका संसार ही समाप्त हो जाया करता था। मृतक का सत्कार या उसके अन्य प्रकार तब तक व्यवहृत नहीं हुए थे।

वायु मण्डल की अत्यन्त स्निग्धता के कारण तब तक अग्नि का आविर्भाव भी नहीं था। यौगलिकों के मृत शरीर को समीपवर्ती वन में रहने वाले भारण्ड[1] पक्षी उठाकर ले जाते थे और किसी समुद्र में या गंगा आदि किसी बड़ी नदी में उसे विसर्जित कर दिया करते थे।

शव-दहन

शव के विधिवत् दहन की क्रिया का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के अनन्तर हुआ। अष्टापद पर्वत पर पादोपगमन अनशन में भगवान् ने जब शरीर-त्याग किया, तो शक्रेन्द्र व ईशानेन्द्र आदि के द्वारा चक्रवर्ती भरत की उपस्थिति में भगवान् को क्षीरोदक से स्नान कराया गया, गोशीर्ष चन्दन का अनुलेप किया गया, हंस-चिन्हित सुन्दर वस्त्र पहनाये गये और उनके शरीर को सभी प्रकार के अलंकारों से विभूषि

तदादि च प्रववृते लोके मृतकपूजनम्।
यत्कुर्वन्ति महान्तो हि तदाचाराय कल्पते ॥५३२

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग

१ क—पुरा हि मृतमिथुनशरीराणि महाखगाः।
नीडकाष्टमिवोत्पाट्य सद्यश्चिक्षिपुरम्बुधौ ॥
अम्बुधेरुपलक्षणत्वाद्यथायोगं गंगाप्रभृतिनदीष्वपि इति ज्ञेयम्।

—श्रीऋषभचरित्र

ख—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २, श्लोक ७३७

किया गया। तदनन्तर शव को शिविका में रखकर गोशीर्ष चन्दन से निर्मित चिता तक ले गये। अगुरु, तुरुष्क, मधु, घृत डालकर चिता को प्रज्वलित किया गया। दाह-क्रिया सम्पन्न होने पर क्षीरोदधि के निर्मल जल से चिता को शान्त किया गया। इसी प्रकार गणधरों व अन्य मुनियों का भी शव-संस्कार किया गया। शक्रेन्द्र व ईशानेन्द्र द्वारा वहाँ तीन चैत्य स्तूप भी बनाये गये।[1]

तीर्थ-स्थापना

महामाता के निर्वाण से भरत अत्यन्त खिन्न हुए। उन्मन हो वे समवसरण में आये, भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया और उपदेश सुनने के लिए यथास्थान बैठ गये। भगवान् ने प्रवचन किया और उससे प्रेरित होकर भरत के पुत्र ऋषभसेन ने अपने पांचसौ भाइयों व सातसौ भतीजों के साथ दीक्षा ग्रहण की। भरत के पुत्र मरीचि ने भी निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार किया। ब्राह्मी व सुन्दरी साध्वी बनीं। श्रेयान्स प्रभृति श्रावक बने और सुभद्रा प्रभृति श्राविकाएँ बनीं। हेमचन्द्राचार्य का मत है कि ब्राह्मी भी साध्वी बनना चाहती थी, पर, भरत ने उसे अनुज्ञा प्रदान नहीं की; अतः वह प्रथम श्राविका बनी।

कच्छ, महाकच्छ आदि साधना-भ्रष्ट चार हजार तापस भी उस समय समवसरण में उपदेश सुनने के लिए आये हुए थे। कच्छ, महाकच्छ आदि को छोड़ कर शेष सभी तापसों ने भगवान् के पास पुनः प्रव्रज्या ग्रहण की। ऋषभसेन (पुण्डरीक) प्रथम गणधर हुए और उन्होंने अन्य तिरासी गणधरों के साथ गणिपिटक की रचना की।

साम्राज्यवादी लिप्सा का विस्तार

कुलकर-व्यवस्था के आरम्भ से यौगलिक व्यवस्था (व्यष्टि) क्रमशः टूटती गई और समष्टि के अंकुर फूटने लगे, जिनका कि पूर्णतः विस्तार

१. जम्बूद्वीपपण्णत्ति तथा आवश्यक चूर्णि, पृ० २२२

[क्षे]त्र-मान का आरम्भ

चक्र की प्राप्ति से भरत फूले नहीं समा रहे थे; क्योंकि अब उनका [क]ोई शत्रु या उनके आदेश की अवहेलना करने वाला मनुष्य इस पृथ्वी [प]र जीवित रह नहीं सकता था। चक्र जिधर से चल पड़ा, उधर भरत को [नि]श्चित विजय थी और लड़ने वाले का विनाश। भरत ने दिग्विजय के [उ]द्देश्य से अपनी सेना को सुसज्जित किया और एक दिन मंगल वेला में [पू]र्व दिशा की ओर प्रयाण कर दिया। आगे-आगे चक्र और उसके पीछे [द]ण्ड-रत्न को ग्रहण कर सेनापति सुषेण सेना का नेतृत्व करते हुए चलने [ल]गा। गज, अश्व, रथ और पादातिकों की अपार सेना अपने-अपने शस्त्रों से सज्जित होकर बड़े उत्साह के साथ चल पड़ी। भरत भी सन्नद्ध होकर बड़ी उमंग के साथ निकल पड़े। चक्र पहले दिन एक नियत क्षेत्र को पार कर आगे चलता हुआ रुक गया। सेना ने भी वहीं पड़ाव डाला। उस समय तक क्षेत्र का कोई मान प्रचलित नहीं था। सेना के प्रयाण-स्थान और विश्राम-स्थान के बीच के क्षेत्र को उस दिन से एक योजन[1] का मान दिया गया तथा वह स्वीकृत होकर व्यवहार में प्रयुक्त होने लगा। भरत उसी मान से प्रतिदिन एक-एक योजन आगे प्रयाण करते और फिर विश्राम।

आदिवासी सभ्यता

दिग्विजय करते हुए भरत ने क्रमशः पूर्व दिशा में मगध तीर्थ के राजा कुमार देव को, दक्षिण दिशा में समुद्र के तटवर्ती वरदाम तीर्थ के राजा वरदामपति को, पश्चिम में प्रभास तीर्थ के राजा प्रभासदेव को अपना अनुचारी बना लिया। समुद्र के दक्षिण-पश्चिम तट पर, सिन्धु नदी के समीपवर्ती अनेक राज्यों में घूमते हुए ईशान कोण में वैताढ्य पर्वत के पास

---

१. गत्वा योजनपर्यन्ते तच्च चक्रमवास्थितः।
जज्ञे योजनमानं च तत्प्रयाणानुमानतः॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ४, श्लोक ५६

तमिस्रा गुफा को पार करते हुए भरत क्षेत्र के उत्तरार्ध में पहुँचे। "उस क्षेत्र में आपात जाति के उन्मत्त भील रहते थे। वे दानवों की तरह भयावह थे। धनवान्, बलवान् और तेजस्वी थे। उनके पास आवास के लिए बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ, शयनागार, आसन व नाना प्रकार के वाहन थे। उनके पास सोने और चाँदी की अपार सम्पत्ति थी; अतः वे कुबेर के वंशज जैसे लगते थे। उनके कुटुम्ब बड़े-बड़े थे और उनके अनेक दास दासी भी थे। वे बहुत दुर्जेय थे। युद्ध करने के लिए उनकी भुजाएं प्रतिदिन फड़का करती थीं।"[1]

"युद्ध में कछुए की पीठ की हड्डियों से बने हों, ऐसे अभेद्य कवच, भालू के केशों के शिरस्त्राण व सींग के बने हुए धनुष व्यवहृत करते थे। इनके अतिरिक्त तलवार, दण्ड, भाले, त्रिशूल, लोहे की शलाका व मुद्गर आदि उनके प्रमुख हथियार थे।"[2] भरत ने उन पर चढ़ाई कर दी और दोनों सेनाओं में भीषण संग्राम ठना। किरातों की सेना ने चक्रवर्ती की सेना का अच्छी तरह से मर्दन किया और बहादुरी के साथ उसे पीछे ढकेल दिया।

---

१. किरातास्तत्र निवसन्त्यापाता दुर्मदाः ।
आढ्या महौजसो दीप्ता भूमिष्ठा इव दानवाः ॥३३६॥
तेऽविच्छिन्न महाहर्म्यशयनासनवाहनाः ।
अनल्पस्वर्णरजताः कुबेरस्येव गोत्रिणः ॥३३७॥
बहुजीवधनास्ते च बहुदास परिच्छदाः ।
अजानाभिभवाः प्रायः गुरोर्यानद्रुमा इव ॥३३८॥
अनेक सम्परायेषु निर्व्यूढ बलशालयः ।
महासमरकण्डभारेषु महोक्षा इव ते सदा ॥३३९॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ४

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १, सर्ग ४, श्लोक ३५८ से ३६८ के आधार पर।

ब्रह्माण्ड की कल्पना का आधार

सेनापति सुषेण ने जब अपनी सेना को पीछे खिसकते देखा, तो किरातों पर गुस्से में भर आया। घोड़े पर सवार होकर चमचमाती हुई तलवार को घुमाते हुये वह अपनी सेना के आगे आकर डट गया। सैनिकों का टूटा हुआ साहस फिर से जागृत हुआ और अपने पौरुष को सँभालते हुए शत्रु की सेना के साथ जूझने लगे। थोड़ी ही देर में भरत की सेना गरजने लगी और किरातों के छक्के छूट गये। अपने-अपने प्राण बचाने के लिए वे दशों दिशाओं में दौड़ गये।

पराजय से उद्वेलित होकर कुछ प्रमुख किरात एकत्रित हुए और युद्ध के भावी कार्यक्रम के बारे में अपनी-अपनी योजनाएँ प्रस्तुत करने लगे। पराधीनता स्वीकार नहीं थी और भरत की सेना के समक्ष उनका सामर्थ्य व साधन अल्प थे; अतः किसी दैविक सामर्थ्य की खोज में लगे। उन्होंने तीन दिन का उपवास कर मेघमुख कुलदेव का ध्यान किया। भक्ति से प्रेरित होकर देव प्रकट हुआ। किरातों की विजय-लिप्सा को जाना, तो उसने उन्हें स्पष्ट रूप से सूचित किया कि भरत भावी चक्रवर्ती है। उसे कोई भी शक्ति पराजित नहीं कर सकती; अतः इस संकल्प को त्याग देना चाहिये। किरात नहीं माने। उन्होंने देव से कहा— पराजित न भी हो, तो पीड़ित तो अवश्य होना चाहिए। देव को वैसा करने के लिए बाधित होना पड़ा।

क्षण भर में आकाश काले-काले बादलों से भर गया और चक्रवर्ती की सेना पर मूसलाधार बरसने लगा। भूमि जलमग्न हो गई और सेना दुःसाध्य कष्ट में पड़ गई। विकट समस्या उपस्थित हो गई। भरत ने चर्म रत्न को हाथ में उठाया। संकल्प मात्र से ही वह फैला और सारी सेना जैसे घन समुद्र के ऊपर पृथ्वी ठहरती है, वैसे उस पर सुखपूर्वक आसीन हो गई। वह भूमि पानी में तैरते हुए काष्ठ-खण्ड की तरह प्रतीत होने लगी। भरत ने अपना छत्र रत्न उठाया, तो सारी सेना मूसलाधार

वृष्टि से भी रहित हो गई। जितने स्थान में सेना थी, उतने स्थान के उन्नत हो जाने से नीचे के पानी से और उस पर छत्र हो जाने से वर्षा के पानी से उसकी सुरक्षा हो गई। समस्या अँधेरे की रह गई। भरत ने अपना मणि रत्न उठाया और उसे छत्र के ऊपर स्थापित कर दिया। जैसे सूर्य ही उदित हो गया हो। सेना का पानी व अन्धकार से बचाव हो गया। छत्र व चर्म का वह सम्पुट पानी में तैरते हुए अण्डे की आकृति बना रहा था। ब्रह्माण्ड[1] की कल्पना का भी आधार वह सम्पुट बना और उसके बाद कुछ दार्शनिकों ने उक्त आकार के रूप में ब्रह्माण्ड की कल्पना को प्रमाणित भी किया।

सात दिन के बाद वर्षा शान्त हुई और अन्ततः किरातों को भरत की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। भरत वहाँ से भी आगे बढ़े। ऋषभकूट से लौटते हुए नमि और विनमि के राज्य की ओर भी प्रयाण किया। बारह वर्ष तक दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध हुआ और अन्त में नमि व विनमि ने भी भरत की अधीनता स्वीकार कर ली। विनमि ने अपनी सुभद्रा नामक कन्या और नमि ने बहुमूल्य रत्न भरत को भेंट किये। सुभद्रा भरत के चौदह रत्नों में स्त्री रत्न बनी।

खण्ड प्रपाता गुफा में से सेना आगे बढ़ी। गंगा के पश्चिम तट पर छावनी डाली गई। वहाँ भरत को नैसर्प, पाण्डुक, पिंगल, सर्वरत्नक, महापद्म, काल, महाकाल, माणवक, और शंख, ये नौ निधियाँ प्राप्त हुईं।

दिग्विजय का उल्लास

सर्वत्र विजयश्री प्राप्त कर साठ हजार वर्षों के बाद भरत पुनः अयोध्या लौटे। नागरिकों में अपार हर्ष था। भरत का अपूर्व स्वागत

१. अण्डस्येवाभवत्तत्र सम्पुटं छत्रचर्मणोः।
ततः प्रभृति लोकेऽभूद् ब्रह्माण्डमिति कल्पना ॥ ४५३ ॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ४

किया गया। बारह वर्ष तक विजय-उल्लास मनाया जाता रहा। सभी अधीन राजा आए और भरत का चक्रवर्ती के रूप में अभिषेक किया गया।

भरत व उसके अट्ठानवे भाई

विजयोत्सव के उपलक्ष में चक्रवर्ती भरत एक दिन सभा में बैठे थे। हजारों मण्डलपति राजा और सम्भ्रान्त नागरिक उपस्थित थे। भरत ने सरसरी नजर से सबको निहारा। उसे अपने छोटे अट्ठानवे भाइयों में से एक भी उस परिषद् में दृष्टिगत नहीं हुआ। सरोष आश्चर्य हुआ। ऐसे उल्लास के समय उनकी अनुपस्थिति भरत को बहुत अखरी। रोष ने प्रतिशोध का रूप धारण किया, तो आंखें आग उगलने लगीं और होंठ फड़कने लगे। उसी समय भरत ने सबके पास दूत भेजे और नहीं आने के लिए 'कारण बताओ' का नोटिस दे दिया।

सभी भाइयों के पास एक साथ अलग-अलग दूत पहुँचे और भरत के इङ्गित से उन्हें पूर्णतः अवगत किया। भरत का जब यह संकेत उन्होंने सुना कि विजयोत्सव में सम्मिलित होने के लिए अयोध्या आओ और अपना सर्वस्व न्यौछावर कर मेरे समक्ष झुको, तो उनके स्वाभिमान को गहरी चोट लगी। कोई भी ऐसा करने को तैयार न हुआ। दूतों के साथ सभी ने अपनी मनोभावनाएँ स्पष्टतया व्यक्त कर दीं और अयोध्या आकर विजय-उत्सव में भाग लेने के लिए इन्कार कर दिया। सभी का एक ही उत्तर था कि सारे ही भाई बराबर हैं। छोटे-बड़े का भाव किसी के लिए भी शोभास्पद नहीं। भरत यदि अपनी अहंमन्यता के आधार पर हमें कुछ हीन समझकर अपना गौरव बढ़ाना चाहता है, तो यह उसके लिए उचित नहीं। उसका यदि भ्रातृत्व की पृष्ठभूमि पर वात्सल्य होगा, तो हमारे हृदय में भी सहज स्नेह के साथ श्रद्धा उमड़ेगी। किन्तु, वह बड़ा है, इसलिए यदि हठपूर्वक हमें शासित करना चाहे, तो यह कभी भी स्वीकार नहीं होगा। हमको राज्य पिताजी ने प्रदान किए हैं, भरत ने नहीं। वह

हमारे राज्य किस आधार पर छीनना चाहता है। यदि वह बल-प्रयोग करेगा, तो हम भी उसी पिता के पुत्र हैं। पीछे नहीं रहेंगे।

भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में

सभी भाई एकत्रित हुए और भरत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की भर्त्सना की। सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि आज चाहे युद्ध न हो, किन्तु, यह मानसिक विभेद बढ़ता जायेगा और एक दिन युद्ध की परस्थिति पैदा हो जायेगी; इसलिए सुन्दर होगा कि पिताजी से वस्तुस्थिति निवेदित कर दी जाये और उनसे ही मार्ग-दर्शन प्राप्त किया जाये।

बातों ही बातों में अष्टापद पर्वत पर, जहाँ भगवान् ऋषभदेव का समवसरण लगा हुआ था; सभी भाई पहुँच गये। नमस्कार किया और विषाद के स्वर में निवेदन किया—प्रभो! भरत को और हम सबको आपने यथायोग्य अलग-अलग राज्य प्रदान किये थे। हम अपने राज्य से सन्तुष्ट हैं। राज्य के विस्तार की आकांक्षा को हम हेय समझते हैं। अपने पास जो है, वह पूर्ण है, अच्छा है; अतः हम उसमें संतुष्ट हैं और हम उससे अधिक पाने की लालसा को त्याज्य मानते हैं। आपके द्वारा बनाई गई मर्यादा हमारे लिए अनुल्लंघ्य है। किन्तु, भरत की आकांक्षा इससे सर्वथा प्रतिकूल है। वह आप द्वारा दिए गये राज्य से सन्तुष्ट नहीं हुआ; अतः दूसरों के राज्य हड़पने के लिए भी निकला और उसमें वह सफल भी हुआ। किन्तु, अभी तक वह तृप्त नहीं हुआ है। उसके दूत हमारे पास भी आये और उन्होंने कहा—सेवा करो या राज्य-त्याग करो। वह राज्य के गर्व में है; अतः भ्रातृत्व का सम्बन्ध भी भूल गया है और अपने विचार हम सब पर लादना चाहता है। वह अन्याय पर उतर आया है। यद्यपि वह बड़ा भाई है; पर, उसके कथन मात्र से ही हम उसकी अधीनता कैसे स्वीकार कर लें? हम उसके इस तरह के अन्याय को कैसे सहन कर सकते हैं? वह राज्य छीनने पर उतारू है और हम अपने स्वाभिमान व स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए कृतसंकल्प हैं। हम युद्ध करना नहीं चाहते,

किन्तु, किसी भी समय युद्ध छिड़ जाये, तो आप हमें उलाहना मत देना। हमने अपनी स्थिति आपके समक्ष इसलिए स्पष्ट कर दी है।

भगवान ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश

भगवान् ऋषभदेव ने अपने अट्ठानवे ही पुत्रों को आश्वस्त करते हुए कहा - पुत्रो ! मिट्टी (भूमि) के लिए युद्ध करना नादानी है। युद्ध को टालने का तुम्हारा प्रयत्न प्रशस्य है। भाई से तो कभी भी नहीं लड़ना चाहिये। उसमें तो अपयश ही हाथ लगता है, चाहे कोई भी पक्ष हारे व जीते। वैभव व साम्राज्य के अखाड़े में कितने व्यक्ति भूतकाल में उतरे, इसकी कोई गणना नहीं है। इसमें जो हार गये; उनका तो नशा चूर-चूर हुआ ही, किन्तु, जो जीते वे भी हारे हुए व्यक्तियों से कम नहीं रहे—अधिकारों की मादकता में व्यक्ति अन्धा हो जाता है और फिर वह आगे-पीछे कुछ भी नहीं देख सकता। तुम सबने संघर्ष टाल दिया, यह बहुत सुन्दर किया। इसमें तुम्हारा और तुम्हारे इक्ष्वाकु वंश का आदर्श अक्षुण्ण रहा है।

पुत्रों के मन में वैराग्य भावना अंकुरित करने के उद्देश्य से भगवान् ऋषभदेव ने आगे कहा—सम्पत्ति और राज्य के छीने जाने का भय हर समय बना रहता है। ये तो दोनों ही नश्वर हैं। आज किसी के पास है और कल किसी के पास। इनसे कभी तुम्हारा त्राण होने का नहीं। तुम्हारे त्राण के लिए, सुख, समृद्धि व वैभव के लिए एक राज्य और है, जिसे कोई भी शक्तिशाली छीन नहीं सकता और न वहां किसी प्रकार का आघात ही पहुँचाया जा सकता है। न उसका बटवारा हो सकता है और न वहाँ विद्रोह की आग ही भड़क सकती है। उसकी सुरक्षा के लिए किसी प्रकार की सेना की आवश्यकता नहीं है। वहाँ के विशाल भण्डारों में अक्षय धन है, जिसमें से यथेच्छ उपभोग करने पर भी किसी प्रकार की रिक्तता नहीं होती। यदि चाहो, तो मैं तुम्हें वह राज्य दे सकता हूँ। फिर भरत के आतंक से तनिक भी चिन्तित होने की तुम्हें कोई व्यग्रता

नहीं होगी। सारे ही भाई एक स्वर में बोल पड़े—यदि हमें ऐसा राज्य मिल जाता है, तो हम यह राज्य प्रसन्नतापूर्वक भरत के लिए पुण्यार्पण कर देंगे। हमें तो ऐसा ही राज्य चाहिए।

भगवान् ऋषभदेव की वाणी से अमृतोपम उपदेश-धार निकली। उन्होंने कहा— पुत्रो ! पूर्व जन्म में स्वर्ग-सुखों से भी तुम्हारा मन नहीं भरा, प्रत्युत उससे तृष्णा भड़कती ही रही। इस मानव के जीवन में जहाँ सुख के साधन सीमित व क्षणक्षयी हैं, तुम उनसे शाश्वत सुख की कल्पना करते हो; यह व्यर्थ है। कोयलों की खान में काम करने वाले उस व्यक्ति का स्मरण करो, जो एक मशक पानी से भर कर निर्जल जंगल में निकल पड़ा था और दूर चला गया था। दोपहर की कड़कड़ाती धूप ने उसे क्षत-विक्षत कर दिया था। प्यास से वह अत्यन्त अकुलाने लगा था। उसने मशक का सारा पानी एक सांस में ही पी डाला था, पर, प्यास शान्त नहीं हुई थी। वह वहीं कहीं वृक्ष की छाया में लेट गया। नींद में उसने स्वप्न देखा कि वह घर पहुँच गया। पूरे मटके का पानी पी गया, पर, प्यास शान्त नहीं हुई। कुँआ, वापी और सरोवर का भी सारा पानी पी गया, फिर भी प्यासा ही रहा। समुद्र के तट पर गया और उसे भी अपने उदर में समा गया; फिर भी प्यास से अकुलाता ही रहा। आखिर मरुस्थल में एक कुँए पर पहुँचा। पानी बहुत गहरा था। पास में लोटा भी नहीं था। उसने दूब का एक पुला बांधा और उस कुँए में इस उद्देश्य से उतारा कि कुछ पानी तो इसमें समा ही जायेगा और उसे निचोड़ कर मैं अपनी प्यास बुझा लूंगा। किन्तु, उस गहरे कूँए से जब अपना पुला बाहर निकाला, तो उसमें समाया हुआ काफी पानी तो पहले ही टपक गया था। बचा-खुचा जो भी बाहर आया, उसने उसे अपने मुँह में निचोड़ा और प्यास बुझाने का असफल प्रयत्न किया। किन्तु, जो प्यास सरोवरों व समुद्र के पानी से भी शान्त न हो सकी, क्या उस पानी से कभी शान्त हो सकती थी ? इसी तरह स्वर्ग के अपरिमित सुखों के उपभोग से भी यदि तुम्हारा मन नहीं भरा, तो फिर इस प्रकार के नश्वर राज्यों के उप-

भोग से कैसे मर सकता है ? वास्तविक सुख राज्य-सापेक्ष व वैभव-सापेक्ष नहीं है। वह तो आत्म-सापेक्ष है। वह तो स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, समाधि व संयम से ही प्राप्त होता है। बोधि-प्राप्ति, व्रत-ग्रहण और क्रमशः योगों के अवरोध से वह पैदा होता है; अतः हे पुत्रो ! जागृत होओ और अपने दुष्प्राप्य विवेक का सम्यक् उपयोग करो। सुख तुम्हारे शरीर की छाया की तरह तुम्हारे साथ दौड़ेगा। यह राज्य स्थायी है; व्याघात रहित है; अतः इस ओर प्रवृत्ति करो।

अट्ठानवे ही भाइयों के हृदय में विवेक जागृत हुआ। एक अभिनव चेतना से उनका मानस उद्दीप्त हुआ और उसी समय संविग्न बनकर ऋषभदेव के चरणों में प्रव्रजित हो गये। वे अपने राज्यों में पुनः नहीं लौटे और भरत के चरणों में नहीं झुके। अट्ठानवे ही भाइयों के पुत्र राजा बने और फिर उन्होंने अपने पितृ-स्थानीय राजा भरत की अधीनता स्वीकार कर ली।

दिग्विजय की अपूर्णता

अट्ठानवे ही भाइयों द्वारा स्वेच्छया प्रव्रज्या ग्रहण से भरत को किसी भी तरह का संघर्ष नहीं करना पड़ा; अतः उन्हें हर्ष हो रहा था। पर, बन्धु-प्रव्रज्या-ग्रहण के लोकापवाद रूप विषाद ने बिना युद्ध राज्य-प्राप्ति के हर्ष को किरकिरा कर दिया, किन्तु, कुछ दिनों में स्थिति सामान्य हो गई। भरत का साम्राज्य पूरे भरत क्षेत्र में छा चुका था। सहसा एक दिन सुषेण सेनापति ने आकर सम्राट् भरत को सूचना दी कि चक्र अभी तक अपना स्थान ग्रहण नहीं कर रहा है। सभी अस्त्र-शस्त्र आयुध-शाला में यथास्थान प्रतिष्ठित कर दिये गये हैं, पर, बहुत सारे प्रयत्न करने पर भी चक्र आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है। बाहर ही घूम रहा है; अतः यह ज्ञात होता है कि हमारी दिग्विजय अभी तक पूर्ण नहीं हुई है।

सभा में सन्नाटा छा गया। सबने अपनी-अपनी कल्पनाएँ दौड़ाईं,

पर, ऐसा कोई भी नाम स्मृति में नहीं आया, जो सम्राट् भरत की अधीनता का अपवाद हो।

महामात्य ने सम्राट् भरत तथा अन्य सभासदों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—"हमने सारे भूमण्डल पर विजय प्राप्त की है; किन्तु, लगता है, हमारे समक्ष विजय का बड़ा टेढ़ा प्रश्न अभी तक खड़ा है। हमने दूर-दूर तक के राजाओं को नमाया है, पर, दिये तले अँधेरा रह गया है। हमें अन्यत्र दृष्टि न दौड़ाकर अपने घर को ही सँभालना चाहिये। यद्यपि आपके अट्ठानवे अनुज निर्ग्रन्थ हो गये हैं, किन्तु, एक अनुज बाहुबली अभी अवशिष्ट हैं। वे विजयोल्लास में भी सम्मिलित नहीं हुए हैं। बड़े स्वाभिमानी हैं और सहसा अधीनता स्वीकार भी नहीं करेंगे। चक्र का अपने स्थान पर न पहुँचना स्पष्टतः यही परिलक्षित कर रहा है।"

थोड़े से वाद-विवाद के अनन्तर यह विचार सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। समय रहते ही भाई को सावधान करने के लिए भरत ने सुवेग दूत को तक्षशिला भेजा। राजा बाहुबली ने दूत का केवल औपचारिक स्वागत किया और व्यवहार निभाने के निमित्त ही भरत के कुशल-संवाद पूछे। सुवेग द्वारा अपने स्वामी के पक्ष को उपस्थित किए जाने के अनन्तर बाहुबली की आखें लाल हो गईं, भुजाएँ फड़कने लगीं और सारी ही धमनियों में खून खौलने लगा। बाहुबली ने व्यंग-प्रहार करते हुए स्पष्ट कह दिया — भरत को केवल मेरी यही अपेक्षा है कि मैं उसे नमस्कार कर उसका चक्र आयुधशाला में पहुचा दूँ। वह अपने को चक्रवर्ती प्रमाणित करने के लिए मुझे बुला रहा है, भ्रातृत्व के नाते नहीं। यदि वह भ्रातृत्व-शून्य है, तो मुझे भी उसकी इतनी अपेक्षा नहीं है। उसने अन्य राजाओं को झुकाकर विजय का गर्व किया है, पर, मैं उसके सामने कभी भी झुककर नहीं चलूँगा। आक्रान्ता होकर मैं नहीं आऊँगा, पर, यदि वह अपनी लालसाओं के वश आक्रामक होकर आयेगा, तो मैं उससे टलने वाला भी नहीं हूँ। साठ हजार वर्षों तक नाना युद्ध कर उसने जो विजयश्री प्राप्त की है, मेरे लिए अच्छा अवसर है कि वह मुझे सौंपने के लिए यहाँ चला आये।

सभासदों व नागरिकों पर प्रतिक्रिया

दोनों ही ओर भ्रातृत्व के आधार पर कुछ भी नहीं सोचा जा रहा था। भरत को अपने अपार सैन्य वल पर गर्व था, तो वाहुवली को अपने अपरिमित भुजा-वल का गर्व था। वाहुवली ने सुवेग दूत को और भी वहुत सारी कड़वी-मीठी वातें सुनाईं। दूत का वहाँ कोई सत्कार नहीं किया गया, वल्कि उसे अपमानित करते हुए सभा से वहिष्कृत किया गया। दूत-आगमन का जव सभासदों व नागरिकों को पता चला, तो उस पर तीखे व्यंग-प्रहार करते हुए वे कहने लगे :

"राज-सभा से यह अजनवी कौन निकला ?"

"राजा भरत का दूत ज्ञात होता है।"

"इस भूमण्डल पर वाहुवली के अतिरिक्त दूसरा भी कोई शासक है क्या ?"

"हाँ, वाहुवली के वड़े भाई भरत अयोध्या के राजा हैं।"

"इस दूत को उन्होंने यहाँ क्यों भेजा है ?"

"अपने भाई और हमारे कुशल प्रशासक वाहुवली को वुलाने के लिए।"

"अरे ! हमारे राजा के भाई इतने दिन तक कहाँ गये थे ?"

"भरतक्षेत्र के छ खण्ड जीतने के लिए।"

"अपने भाई को वुलाने की अभी उन्हें इच्छा क्यों हुई ?"

"दूसरे सामान्य राजाओं की तरह सेवा कराने के लिए।"

"सारे राजाओं को जीतकर अव वह इस शूलि पर चढ़ना क्यों चाहता है ?"

"अखण्ड चक्रवर्तित्व का अभिमान है।"

"छोटे भाई से हारा हुआ, वह अपना मुँह कहाँ छुपायेगा ?"

"सर्वत्र विजयी होने वाला व्यक्ति भावी की हार को नहीं पहचान सकता।"

"भरत के मन्त्रियों में क्या कोई चूहे के समान भी नहीं है ?"

"कुलक्रम से वने हुए अनेक वुद्धिमान् मन्त्री हैं।"

वाहुवली ने कहा—देवो ! इसमें मेरा क्या दोष है ? राज्य-लिप्सा के लिए तो मैं युद्ध कर नहीं रहा हूँ। मैं तो पिताजी के द्वारा प्रदत्त अपने राज्य की सुरक्षा कर रहा हूँ। आक्रान्ता को शिक्षा देना मेरा धर्म है। भरत जैसे आया है, यदि वैसे ही लौट जाये, तो मैं युद्ध नहीं करूँगा, यह विश्वास दे सकता हूँ।

दोनों ही पक्ष अपने-अपने आग्रह पर अटल थे; अतः समझौता नहीं हो सका। हिंसा को रोकने के लिए देवों द्वारा एक दूसरा प्रस्ताव और रखा गया। उन्होंने दोनों ही से कहा—हार और जीत का निर्णय तो दोनों के बीच होने का है; अतः सैनिकों को युद्ध में क्यों होमा जा रहा है ? दोनों भाई परस्पर लड़ें और अपने पराक्रम से एक दूसरे को परास्त करें। दोनों ही पक्षों को यह प्रस्ताव मान्य हो गया।

भरत द्वारा शक्ति-परीक्षण

वाहुवली का शारीरिक वल अपरमित था। भरत चक्रवर्ती थे, पर, कोमल भी बहुत थे। अपनी दिग्विजय में कभी उन्होंने शस्त्र उठाकर युद्ध नहीं लड़ा था। भरत की विजय सुयोग्य सेनापति व वीर सैनिकों के वल पर ही विशेषतः हुई थी। इस प्रस्ताव को स्वीकृत किये जाने से वहली के सैनिकों में जहां हर्ष था, वहां भरत के सैनिकों में नाना आशंकाएं भी उत्पन्न हो रही थीं। स्थान-स्थान पर होने वाली फुस-फुस ने चक्रवर्ती का ध्यान उस ओर खींच लिया। अपने वल से अपने ही सैनिकों को प्रभावित करने के लिए चक्रवर्ती ने एक विशेष प्रयत्न किया। अपने सैनिकों को आदेश देकर उन्होंने एक बहुत बड़ा खड्डा खुदवाया। स्वयं उसके किनारे पर जाकर बैठे। अपने वांये हाथ पर, वृक्ष की लटकती हुई लम्बी-लम्बी जटाओं की तरह, एक पर एक मजबूत एक हजार जंजीरें बंधवाईं। एक हजार सैनिकों को अपने पूरे वल और अपने-अपने वाहनों के साथ उन जंजीरों को खींचने और स्वयं को खड्डे में ढकेल देने का आदेश दिया। सैनिक एक बार कुछ सकुचाये, पर, भरत के वार-वार कहने पर वे ऐसा करने को उद्यत हो गये। एक

हजार योद्धाओं की पूरी शक्ति लगने पर भी भरत की भुजा ज्यों-की त्यों स्थिर रही। अंश मात्र भी इधर-उधर नहीं हुई। भरत ने झटक देकर ज्यों ही अपना हाथ सीने से लगाया, नीचे का घड़ा खिसक जाने से जैसे सारे ही घड़े गिर पड़ते हैं; सभी सैनिक उस खड्डे में गिर पड़े। इस शक्ति-परीक्षण से सैनिकों में आनन्द की लहर दौड़ गई और सारी अयथार्थ आशंकाएं दूर हो गईं।

द्वन्द्व युद्ध

भरत और बाहुबली द्वन्द्व युद्ध के लिए अखाड़े में उतर आये। दृष्टि-युद्ध, वाग्-युद्ध, बाहु-युद्ध, और दण्ड-युद्ध सुनिश्चित हुए। दृष्टि-युद्ध के लिए दोनों ही वीर अनिमिष होकर खड़े हो गये और एक दूसरे को अपलक निहारने लगे। दिन के चतुर्थ प्रहर के आरम्भ तक दोनों उसी तरह निर्निमेष खड़े रहे। सायं-काल सहसा भरत के मुँह पर सूरज आ गया और उसकी पलकें झँप गईं। प्रथम द्वन्द्व युद्ध में बाहुबली की विजय हुई और भरत के हाथ पराजय लगी। इसी प्रकार वाग्-युद्ध में दोनों द्वारा बार-बार सिंहनाद किया गया। क्रमशः बाहुबली का स्वर उदात्त बनता रहा और भरत का स्वर क्षीण। बाहु-युद्ध के समय सरोष भरत ने बाहुबली के वक्षः-स्थल पर मुष्टि का प्रहार किया, तो एक क्षण के लिए वे बेहोश जैसे हो गये। बाहुबली दूसरे ही क्षण सावधान हो गये और उन्होंने मौका पाकर भरत के पाँव पकड़ कर उन्हें आकाश में उछाल दिया। गिरते हुए अपने भाई को देखकर उनके हृदय में करुणा उमड़ आई। बच्चे जैसे गेंद को आकाश में ही पकड़ लेते हैं; उसी तरह भरत को भूमि पर गिरने से उन्होंने बचा लिया।

तीनों युद्धों में हार जाने से भरत का रोषारुण होना सहज था। दण्ड-युद्ध के समय उन्होंने अपनी पूरी शक्ति को बटोर कर अनुज के सिर पर अचानक प्रहार किया, तो वे जानु तक धरती में समा गये। बाहुबली अपने पराक्रम को बटोर कर बाहर निकले और अवसर देख कर

उन्होंने बाहुबली को उस कार्य से उपरत करते हुए प्रतिबोध दिया। समय की अणि चूकने से उनका रोष कुछ शान्त हुआ और वह क्रमशः निर्वेद में परिणत हो गया। भाई को प्रेत्यधाम पहुँचाने वाले बाहुबली ने प्रतिबुद्ध होकर उसी मुष्टि से अपने सिर के केशों का लुंचन कर लिया। वीर रस का वैराग्य में इस तरह का परिवर्तन एक महान् आश्चर्यकारी था। दर्शकों को अपने नेत्रों पर विश्वास नहीं हो रहा था। उन्हें वह एक स्वप्न जैसा प्रतीत हो रहा था।

विजिगिषु सम्राट् भरत की इस घटना ने आँखें खोल दीं। हिंसा प्रतिहिंसा को जागृत करती है, प्रतिशोध वैमनस्य का उद्भावक होता है, तो निर्वेद शान्त रस का जनक होता है। बाहुबली ने 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' उक्ति को चरितार्थ किया, तो भरत का दिल पसीजा, अपने द्वारा विहित कार्यों के प्रति ग्लानि हुई और वे बिना किसी शर्त के बाहुबली के चरणों में झुक गये। जो बटोरना चाहता है, वह कोरा रहता है और जो उत्सर्ग करता है, श्रेय उसके पीछे दौड़ता है। बाहुबली जब तक अपने राज्य के संरक्षण में प्रवृत्त रहे; भरत भाई नहीं, शत्रु प्रतीत होते रहे थे और जब वे निस्संग होकर राज्य से उपरत हो गये, तो भरत स्वतः ही उनके सम्मुख झुक गये और अपने सारे राज्य को उनके चरणों में न्योछावर करने को प्रस्तुत हो गये। किन्तु, राज्य की सुनहरी चमक बाहुबली को कैसे लुभा सकती थी? भरत ने ज्येष्ठ बन्धु के नाते शतशः आग्रह किया, पर, अनुराग विराग को दबाने में सक्षम नहीं हुआ।

बाहुबली द्वारा प्रव्रज्या-ग्रहण

बाहुबली ने मुकुट उतारा, राजकीय परिधान छोड़ा और तपस्वी साधक की मन्थर गति से चल पड़े। मन में विचार आया, भगवान् ऋषभदेव के चरणों में पहुँचना चाहिए; किन्तु, दूसरे ही क्षण उन्हें याद आया—वहाँ तो मेरे पूर्व दीक्षित अट्ठानवे छोटे भाई हैं। यदि वहाँ जाऊँगा, तो मुझे उन्हें नमस्कार करना होगा। यह सिर बड़े भाई भरत के सामने भी यदि नहीं झुका, तो छोटे भाइयों के आगे कैसे झुकेगा? साधना आत्म-

सापेक्ष होती है। तत्त्वतः में दूसरा व्यक्ति तो केवल निमित्त होता है और उसकी सबको आवश्यकता भी नहीं होती। यदि परावलम्बन को छोड़कर स्वावलम्बन के आधार पर निर्जन कानन में एकाकी ध्यानस्थ रहूँ, तो भी मैं अपने लक्ष्य तक सहजता से पहुँच जाऊँगा। इसी भावना से प्रेरित होकर बाहुबली जंगलों की ओर चल दिए। एकान्त स्थान देख कर कायोत्सर्ग में लीन हो गये। ग्रीष्म, वर्षा व शीत ऋतुएँ क्रमशः आईं और चली गईं। वन्य-जन्तुओं ने उन्हें नाना प्रकार से त्रास दिया, पक्षियों और चींटियों ने भी उन्हें क्लान्त करने का प्रयत्न किया, पर, वे व्युत्सृष्ट-काय होकर अपने एकाग्र चिन्तन में अटल रहे। वे किसी भी तरह से विचलित नहीं हुए। एक वर्ष का पूरा समय बीत चुका।

ब्राह्मी-सुन्दरी का आह्वान

भगवान् ऋषभदेव ने एक दिन ब्राह्मी और सुन्दरी के समक्ष बाहुबली की उत्कट तपस्या का उल्लेख करते हुए कहा—बाहुबली अपने बहुत सारे कर्मों को खपाकर शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी की तरह निर्मल बन रहा है। किन्तु, पर्दे के पीछे रहे हुए पदार्थ जैसे दिखाई नहीं देते हैं; अभिमान के कारण उसे भी उसी तरह केवल ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा है। तुम दोनों उसके पास जाओ। तुम्हारे कथन से प्रेरित होकर वह अभिमान छोड़ देगा और अनुत्तर केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करेगा।

ब्राह्मी और सुन्दरी दोनों साध्वियाँ भगवान् के द्वारा प्रेरित होकर उस भयानक जंगल में गईं। बहुत कुछ छान-बीन के अनन्तर उन्होंने ध्यानस्थ मुनि बाहुबली को पहचाना। तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया तथा संगीत के स्वर में बोलीं: "अब तो बन्धव! करिवर से उतरो।" बारह महीने से चलने वाला एकाग्र चिन्तन बहिनों के शब्दों से सहसा टूटा। वे शब्द उनके हृदय को बींध गये तथा सोचने लगे: "मेरी बहिनें इस घोर कानन में क्यों आईं? वे साध्वियाँ हैं और यथातथ्यभाषिणी हैं। मुझे सब प्रकार के सावद्य योगों का प्रत्याख्यान किये एक वर्ष की अवधि समाप्त हो रही है। भूमि पर खड़ा कायोत्सर्ग कर रहा हूँ। गज की असवारी मैंने

कौनसी कर रखी है ? इसी चिन्तन ने उनके भावी चिन्तन का द्वार खोल दिया। बाहुबली के ऊर्ध्वमुखी चिन्तन ने करवट ली और वे वास्तविकता तक पहुँच गये। रत्नाधिक साधुओं को छोटा मानकर भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में न जाना, इससे बढ़कर दूसरा हाथी कौन होगा ? उसी समय पूर्व दीक्षित साधुओं को नमस्कार करने के निमित्त उन्होंने चरण बढ़ाये, मोहनीय कर्म का अंश—अभिमान समाप्त हुआ और वे सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बने।

भरत द्वारा साम्राज्य का संचालन

भरत अपनी सेना के साथ अयोध्या लौट आये। चक्र स्वतः ही आयुधशाला में प्रविष्ट हो गया। विजयोल्लास की अपूर्णता नहीं रही। शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए अपने अधिशास्ता मण्डल को आमन्त्रित किया। नया विधान बनाया, परम्पराएँ स्थापित कीं तथा नाना दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रवर्त्तन भी किया। राजनीति के अंग के रूप में चले आ रहे साम, दान, दण्ड और भेद को और व्यवस्थित किया। मृत्यु-दण्ड की परम्परा भी आरम्भ की। चवदह रत्न[1] व नौ निधियों[2] को यथास्थान स्थापित किया गया। अठारह श्रेणियों[3] को विधिवत् व्यवस्थित किया गया। बत्तीस हजार मण्डलपति अनुचारी राजाओं को अपने-अपने प्रदेश का प्रमुख घोषित कर व्यवस्था-संचालन का भार उन्हें सौंपा गया। ऐश्वर्य और विलास के प्रचुर साधन सबके लिए उपलब्ध किए गये।

श्रावकों का सम्मान

एक बार भगवान् ऋषभदेव ग्रामों और शहरों में विहरण करते हुए अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर पधारे। सम्राट् भरत को जब यह ज्ञात हुआ,

---

१. देखें, परिशिष्ट संख्या—?
२. देखें, परिशिष्ट संख्या—१
३. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

तो अपने परिकर के साथ वे भी प्रभु के दर्शनार्थ आये। प्रवचन सुना। अपने छोटे भाइयों के भी वहाँ दर्शन किये। उन्हें देखते ही बाल्य जीवन, राज्य-अधिग्रहण व उनके अकल्पित ही दीक्षा-ग्रहण आदि की प्राचीन घटनाएँ एक-एक कर भरत के मानस पर उभर आईं। पश्चात्ताप के साथ उष्ण निःश्वास निकलने लगे। अपने द्वारा विहित कार्यों के प्रति घृणा व्यक्त करते हुए वे सोचने लगे—मैं अनल की तरह अतृप्त मानस हूँ। मैंने अपने ही छोटे बन्धुओं के राज्य हड़प लिए। क्या मैं यह राज्य और ऐश्वर्य किसी दूसरे को दे दूँ? नहीं, यह उचित नहीं होगा। एक मास की तपस्या के अनन्तर घोर तपस्वी जैसे आहार-ग्रहण करते हैं, वैसे ही यदि मैं उन्हें भोग्य सम्पत्ति व राज्य के लिए निमंत्रित करूं, तो क्या वे मेरे पुण्य से उसे ग्रहण करेंगे?

भरत ने प्रभु से अपना आशय निवेदित किया, तो उन्होंने कहा—हे सरलाशय सम्राट्! तेरे बन्धु महाव्रती हैं। वे वमन किये हुए अन्न की तरह भोगों को स्वीकार नहीं करेंगे।

निराश होकर भरत ने अपने मन में फिर सोचा—यद्यपि मेरे ये विरक्त बन्धु भोगों की ओर तो उन्मुख नहीं होंगे, पर, प्राण-धारण के लिए आहार-ग्रहण तो करेंगे ही। उन्होंने आहार-पानी के पांचसौ बड़े-बड़े शकट भराकर मंगवा लिये और अपने सभी बन्धुओं से उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया। आधाकर्म दूषित होने से प्रभु ने उस आहार का भी निषेध कर दिया। भरत ने अपने लिए निष्पन्न भोजन के लिए निवेदन किया, तो उसे राजपिण्ड बतला कर प्रभु ने निषेध कर दिया। भरत अत्यन्त निराश हुए। निर्ग्रन्थ बन्धुओं ने उस भोजन को ग्रहण नहीं किया और वापिस ले जाना भरत नहीं चाहते थे। असमंजस में तैरते-डूबते वे कभी भगवान् ऋषभदेव की ओर देख रहे थे तथा कभी समागत इन्द्र की ओर। भगवान् तो इस विषय में मौन थे। इन्द्र ने भरत के मनोगत विचारों को भांपते हुए कहा—आप इस भोजन को विशिष्ट गुण-सम्पन्न पुरुषों को दे दें। भरत को इच्छित मार्ग मिल गया। उन्होंने उस

भोजन को निषेध ([illegible]) [illegible] से [illegible] कर दिया । उस दिन से [illegible] का [illegible] भी प्रारम्भ हुआ ।

इन्द्र-महोत्सव का आरम्भ

भरत ने सादगी इन्द्र से जिज्ञासा की——क्या आप स्वर्ग में इसी रूप में रहते हैं ?

इन्द्र ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया —राजन् ! हमारा स्वर्गीय रूप ऐसा नहीं होता । वहाँ के रूप को मनुष्य अपने नेत्रों से देख भी नहीं सकते ।

भरत ने नम्रता के साथ कहा——आपके उस स्वरूप को देखने के लिए मैं उत्कण्ठित हूँ ।

इन्द्र ने कहा——राजन् ! तुम श्लाघ्यपुरुष हो । तुम्हारी प्रार्थना व्यर्थ नहीं होना चाहिए; अतः मैं तुम्हें अपना एक अंग अवश्य दिखाऊंगा ।

इन्द्र ने उचित अलंकारों से सुशोभित होकर एक अनामिका अंगुलि दिखाई और तत्क्षण अपने स्वर्ग में चला गया । भरत उसे देखकर अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुए । अंगुलि की उस सुन्दरता के सामने भरत का सारा वैभव फीका था । भगवान् को नमस्कार कर भरत अयोध्या लौट आये और रात को इन्द्र की उस अंगुलि की स्थापना कर अष्टाह्निक महोत्सव किया । उस समय से इन्द्र महोत्सव की परम्परा चली, जो नाना रूपों में परिवर्तित होती हुई युग-युगों तक चलती रही ।

वेदों का निर्माण

सम्राट् भरत ने प्रमुख श्रावकों को एक बार आमंत्रित कर आदेश दिया, "आप लोग प्रतिदिन राज-प्रासाद में ही भोजन करें । कृषि, वाणिज्य आदि आजीविका के साधन छोड़ दें । स्वाध्याय में निरन्तर लीन रह कर अपूर्व ज्ञान ग्रहण में तत्पर रहें । भोजन करने के अनन्तर प्रतिदिन मेरे पास आयें और इस वाक्य का उच्चारण करें ।

'चेत चेत हो चेत भरत राजान'। इससे भरत की अनासक्त भावना को उत्तेजन मिलता।

भरत के इस प्रकार नैरन्तरिक ऊर्ध्वमुखी चिन्तन ने क्रमशः उन्हें अनासक्ति की ओर प्रेरित कर दिया। साम्राज्य-सम्बन्धी कार्यों से निवृत्त होकर वे तत्त्व-चिन्तन व धर्म-कार्यों में विशेषतः भाग लेने लगे। उन समय श्रावकों के स्वाध्याय के लिए चक्रवर्ती ने अर्हन्तों की स्तुति, मुनि तथा श्रावकों की समाचारी से पवित्र चार[1] वेद बनाये। कुछ विद्वानों का मत[2] है कि उनके नाम—१. संसार दर्शन वेद, २. संस्थान परामर्शन वेद, ३. तत्त्व बोध वेद और ४. विद्या प्रबोध वेद थे। "ये वेद नवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के समय तक चलते रहे। नवें और दसवें तीर्थंकर भ० शीतलनाथ का मध्यवर्ती समय काफी लम्बा था; अतः उस समय जैन साधुओं का विच्छेद हो गया। साधुओं के अभाव में ब्राह्मण वर्ग पूजा जाने लगा और उस वर्ग ने अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के निमित्त व समाज में अगुआ का पद पाने के लिए निवृत्ति धर्म को गौण कर प्रवृत्ति धर्म की ओर विशेष कदम बढ़ाने आरम्भ कर दिये। अनगार धर्म का विरोध यहीं से आरम्भ हुआ और सुलसा तथा याज्ञवल्क्य ऋषि के द्वारा उस समय अन्य वेदों की रचना की गई।[3] कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि उन मौलिक वेदों के मन्त्र कर्णाटक में जैन ब्राह्मणों को अब तक भी याद हैं।

वेद जैन संस्कृति में मान्य रहे हैं, इसका प्रमाण आचारांग सूत्र में भी मिलता है। वहाँ स्थान-स्थान पर व्यवहृत होता

---

१. अर्हत्स्तुति मुनि श्राद्ध समाचारी पवित्रितान्।
आर्यान् वेदान् व्यधात्ततो, तेषां स्वाध्यायहेतवे॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २४०

२. पार्श्वनाथ परम्परा का इतिहास

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २४६

दवी'[1] शब्द प्रत्येक अनुसंधाता को इस तथ्य की ओर आकर्षित कर लेता है कि जैन संस्कृति में यदि वेदों का कोई स्थान नहीं होता या वेद ारी संस्कृति के ही होते, तो वहां यह शब्द-प्रयोग बहुलता से नहीं होता।

वेदों की परम्परा जैन और वैदिक दोनों ही धर्मों में रही और उनके र्माण, संरक्षण व लोप की विविध घटनाएँ भी प्रचलित हैं। वेदों का ाप जैन परम्परा भी मानती है और वैदिक परम्परा भी। पर, अन्तर यह कि जैन परम्परा के अनुसार उन वेदों का उद्धार नहीं हो सका, जब कि दिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा के निकट से मधु और कैटभ दैत्यों द्वारा दों का अपहरण हो चुकने पर भगवान् हयग्रीवावतार ने रसातल से पुनः ाकर ब्रह्मा को दे दिये थे। महाभारत[2] में बताया गया है: "भगवान् ह्मा ने सहस्रदल कमल पर विराजमान होकर जब इधर-उधर दृष्टि ौड़ाई, तो उन्हें जल के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। सत्व ुण में स्थित होकर वे सृष्टि-रचना में प्रवृत्त हुए। जिस भास्वर कमल पर ैठे थे, उस पर भगवान् नारायण की प्रेरणा से रजोगुण और तमोगुण े प्रतीक जल की दो बूँदें पहले से ही अवस्थित थीं। ब्रह्मा के दृष्टिपात ा एक बूँद तमोमय मधु नामक दैत्य के आकार में परिणित हो गई। ़स दैत्य का रंग मधु के समान था और उसकी कान्ति बड़ी सुन्दर थी। ल की दूसरी बूँद जो कुछ कड़ी थी, नारायण की आज्ञा से रजोगुण से त्पन्न कैटभ नामक दैत्य के रूप में प्रकट हो गई।

तमोगुण और रजोगुण से युक्त मधु और कैटभ, दोनों श्रेष्ठ दैत्य बड़े लवान् थे। वे अपने हाथों में गदा लिए कमल नाल का अनुसरण करते ुए आगे बढ़े। उन दोनों ने ही कमल पुष्प के आसन पर बैठकर सृष्टि-

---

१. क—एवं से अप्पमाएण विवेगं कीट्टति वेदवी।

—आचारांग सूत्र, श्रुत० १ अ० ५ उ० ४

ख—एत्थ विरमेज्ज वेदवी—आचारांग सूत्र, श्रु० १ अ० ५ उ० ६

२. अध्याय ३४७ श्लोक २२ से ७२ के आधार पर

रचना में प्रवृत्त अमित तेजस्वी ब्रह्मा को देखा एवं उनके पास ही मनोहर रूप धारण किये हुए चारों वेदों को देखा । क्षण मात्र में ही ब्रह्मा के देखते-देखते निशाचर [illegible] दानवों ने वेदों का अपहरण कर लिया तब वे दोनों उत्तर-पूर्व दिशा महासागर में घुस गये और शीघ्र ही रसातल में जा पहुँचे ।

वेदों के अपहृत हो जाने पर ब्रह्मा बड़े खिन्न हुए । उन पर मोह छा गया । वेदों से रहित होकर मन-ही-मन वे परमात्मा से कहने लगे : "वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं । वेद ही मेरे परम बल हैं । वेद ही मेरा परम आश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य हैं । मेरे वे सभी वेद आज दो दानवों ने बलपूर्वक यहां से छीन लिए हैं । वेदों के बिना अब मेरे लिए सारा लोक अन्धकार मय हो गया है । वेदों के बिना मैं संसार की उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ ? वेदों के नष्ट हो जाने से मेरे पर बहुत बड़ा दुःख आ पड़ा, जो मेरे शोक-मग्न हृदय को दुःसह पीड़ा दे रहा है । शोक समुद्र में डूबते हुए मुझ असहाय का उद्धार कौन करेगा ? अपहृत वेदों को अब कौन लायेगा ? मैं किसको इतना प्रिय हूँ, जो मेरी ऐसी सहायता करेगा ?"

ब्रह्मा ने इस प्रकार चिन्तातुर होते हुए श्रीहरि की तन्मयता से स्तुति करते हुए कहा—स्वयम्भो ! मैं आपकी कृपा से समय-समय पर उत्पन्न होता रहता हूँ । मन, नेत्र, वचन, कर्ण, नासिका, ब्रह्माण्ड और कमल से क्रमशः मेरे सात जन्म हुए हैं और मैं प्रत्येक कल्प में आपका पुत्र होकर प्रकट हुआ हूँ । आपने मुझे वेद रूपी नेत्रों से युक्त बनाया था । किन्तु, मेरे वे नेत्र रूपी वेद दानवों द्वारा हर लिए गये हैं; अतः मैं अन्धा-सा हो गया हूँ । प्रभो ! निद्रा-त्याग करें और वे नेत्र पुनः प्रदान करें । मैं आपका प्रिय भक्त हूँ और आप मेरे प्रियतम स्वामी हैं ।

ब्रह्मा की स्तुति से भगवान् प्रसन्न हुए और अपनी निद्रा-त्याग कर वेदों की रक्षा में उद्यत हो गये । उन्होंने अपने ऐश्वर्य के योग से दूसरा शरीर धारण किया, जो चन्द्रमा के समान कान्तिमान् था । सुन्दर नासिका वाले शरीर से युक्त हो वे घोड़े के समान गर्दन और मुख धारण कर प्रकट

उन सभी ब्राह्मणों को बार-बार फटकारकर यह शाप दिया : "अरे अधम ब्राह्मणो ! आज से तुम वेद माता गायत्री के ध्यान और उसके मंत्र-जप के सर्वथा अनधिकारी हो जाओ। वेद, वेदोक्त यज्ञ तथा वेद की वार्ताओं में; शिव की उपासना, शिव-मन्त्र का जप तथा शिव-सम्बन्धी शास्त्राध्ययन में भी अनधिकारी हो जाओ। देवी के मन्त्र, देवी के ध्यान और उनके अनुष्ठान कर्म में तुम्हारा अनधिकार होगा; अतः तुम सदा अधम ही समझे जाओगे। देवी का उत्सव देखने और उनके नामों का कीर्तन करने से विमुख होने के कारण तुम सदा अधम बने रहोगे। देवी भक्त के समीप रहने और देवी भक्तों की अर्चना करने के लिए अनधिकारी होकर तुम लोग सदा नीच ब्राह्मण की श्रेणी में रहोगे। भगवान् शिव का उत्सव देखने और शिव-भक्त का सम्मान करने में तुम्हारा अधिकार नहीं होगा, जिससे तुम सदा अधम ब्राह्मण गिने जाओगे। रुद्राक्ष, विल्वपत्र और शुद्ध भस्म धारण करने से वंचित होकर तुम सदा अधम ब्राह्मण होकर जीवन व्यतीत करोगे। श्रौत-स्मार्त-सम्बन्धी सदाचार तथा ज्ञान-मार्ग में तुम्हारी गति नहीं होगी; अतः तुम सदा अधम ब्राह्मण समझे जाओगे। अद्वैत ज्ञाननिष्ठा तथा शम-दम आदि साधन से तुम सदा उन्मुख होकर अधम ब्राह्मण बन जाओ। नित्यकर्म आदि के अनुष्ठान तथा अग्निहोत्र आदि साधन में भी तुम्हारा अनधिकार हो और तुम सदा के लिए अधम बन जाओ। स्वाध्याय-याध्यन तथा प्रवचन से उन्मुख होकर सर्वदा अधम जीवन व्यतीत करो। गौ आदि दान और पितरों के श्राद्ध से तुम विमुख हो जाओ। कृच्छ्र, चान्द्रायण तथा प्रायश्चित्त व्रत में तुम्हारा सदा के लिए अनधिकार हो जाओ। पिता, माता, पुत्र, भ्राता, कन्या और भार्या का विक्रय करने वाले व्यक्ति के समान होकर तुम्हें नीच ब्राह्मण होने का अवसर मिल जाये। अधम ब्राह्मणो ! वेद का विक्रय करने वाले तथा तीर्थ एवं धर्म बेचने में लगे हुए नीच व्यक्तियों को जो गति मिलती है, वही तुम्हें प्राप्त हो। तुम्हारे वंश में उत्पन्न स्त्री तथा पुरुष मेरे दिये हुए शाप से दग्ध होकर तुम्हारे ही समान होंगे।"

ब्राह्मणों को इस प्रकार वचन-दण्ड देने के अनन्तर गौतम ऋषि ने जल से आचमन किया। भगवती गायत्री के दर्शनार्थ वे देवालय में गये। चरणों में मस्तक झुकाया, तो वे कहने लगीं—महाभाग ! सर्प का दुग्ध-पान उसके विष की अभिवृद्धि का हेतु बनता है। तुम धैर्य धारण करो। कर्म की ऐसी ही विपरीत गति है।

शाप से दग्ध होने के कारण उन ब्राह्मणों ने जितना वेदाध्ययन किया था, वह सारा विस्मृत हो गया। गायत्री मंत्र भी उनके लिए अनभ्यस्त हो गया। एक अत्यन्त भयानक दृश्य उपस्थित हो गया। सारे एकत्रित होकर अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगे। दण्ड की भांति पृथ्वी पर गिरकर उन्होंने गौतम मुनि को प्रणाम किया। लज्जा के कारण उनके सिर झुके हुये थे और वे कुछ भी कहने में असमर्थ थे। उनके मुंह से बार-बार यही ध्वनि निकल रही थी—मुनिवर ! प्रसन्न हों, मुनिवर ! प्रसन्न हों। चारों ओर से घेर कर जब वे ब्राह्मण मुनिवर की प्रार्थना करने लगे, तो उनका दयार्द्र हृदय करुणा से भर आया। उन्होंने उन नीच ब्राह्मणों से कहा—जब तक भगवान् कृष्ण का जन्म नहीं होगा, तुम्हें कुम्भीपाक नरक में अवश्य ही रहना पड़ेगा; क्योंकि मेरा वचन मिथ्या हो नहीं सकता। इसके बाद तुम लोगों का कलियुग में इस भूमण्डल पर जन्म होगा। मेरी कही हुई ये बातें अन्यथा नहीं हो सकतीं। यदि तुम्हें शाप से मुक्त होना है, तो तुम सब व्यक्तियों के लिए यह परम आवश्यक है कि भगवती गायत्री के चरण कमल की सतत उपासना करो।

महर्षि गौतम ने उन सब ब्राह्मणों को वहां से विदा किया और उसे प्रारब्ध का प्रभाव समझकर अपने दिल को शान्त किया।

जब कलियुग आया, तब कुम्भीपाक नरक से निकलकर वे ब्राह्मण भूमण्डल पर आये। पूर्व काल में जितने ब्राह्मण शपित हो चुके थे; वे ही त्रिकाल-सन्ध्या से हीन तथा गायत्री की भक्ति से विमुख होकर यहाँ उत्पन्न हुए। उस शाप के प्रभाव से ही वेदों में उनकी श्रद्धा नहीं रही और

और वे पाखण्ड का प्रचार करने लगे। वे अग्निहोत्र आर्य सत्कर्म नहीं करते और उनके मुंह से स्वधा और स्वाहा का उच्चारण भी नहीं होता। उन सबके दण्डित होने पर भी उनके द्वारा दुराचार का ही प्रचार होता है। बहुत सारे लम्पट तो ऐसे हैं, जो अत्यन्त दुराचारी होकर पर-स्त्रियों के साथ कुत्सित व्यवहार करने के कारण अपने घृणित कर्म के प्रभाव से पुनः कुम्भीपाक नरक में ही जायेंगे।

यज्ञोपवीत

की परीक्षा होती और उत्तीर्ण व्यक्तियों के वक्षःस्थल पर पुनः उसी रत्न से तीन रेखाएँ खींची जातीं। रसोइये को पहचानने में सुविधा हो गई और बेकारों की बढ़ती हुई फौज रुक गई।

श्रावकों की यह श्रेणी सर्वथा ही नई हुई थी। वे अपना सारा समय तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान आदि कार्यों में ही लगाने लगे। संसार से सर्वथा दूर नहीं हुए, पर, लगभग अपना सम्बन्ध तोड़ लिया। उनके पुत्र-पौत्रादिक साधुओं के पास प्रव्रजित होने लगे। दीक्षित होने में जो असमर्थ होते व परीषहादिक में असहिष्णु होते वे श्रावकों की इस पंक्ति में आ जाते और इस श्रमणभूत पर्याय में अपना जीवन निर्वाह करते। भरत द्वारा संस्थापित इस परम्परा का सूर्ययशा, महायशा, अतिबल, बलभद्र, बलवीर्य, कीर्तिवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य आदि उनके आठ उत्तराधिकारियों ने भी निर्वाह किया। काकिणी रत्न द्वारा लांछित तीन रेखाओं का भरत के निर्वाण के साथ ही लोप हो गया। सूर्ययशा ने उसके स्थान पर सोने की जंजीर का प्रचलन किया। महायशा के समय यज्ञोपवीत चाँदी का बना और फिर क्रमशः रेशम के धागों का व रुई के धागों का प्रयुक्त होने लगा। आठों ही राजाओं ने अर्ध भरत में अपना साम्राज्य चलाया और इन्द्र द्वारा सम्राट् भरत को प्रदत्त मुकुट को भी धारण किया, पर, उसके बाद बहुत भारी होने से उसका उपयोग नहीं किया जा सका।

भावी तीर्थंकर व चक्रवर्ती कौन ?

शासन-सूत्र का सम्यक् संचालन व अनासक्त भावना में अपना जीवन व्यतीत करते हुए भरत एक अनूठा ही उदाहरण उपस्थित कर रहे थे। कमल की भांति साम्राज्य से निर्लेप रह कर धर्म-जागरण करते हुए अपनी आत्मा को भावित कर रहे थे। एक बार भगवान् ऋषभदेव जनपद को पावन करते हुए अयोध्या पधारे। चक्रवर्ती भरत उनके दर्शनार्थ वहां आये। भगवान् ने अपने प्रवचन में मानव-जीवन की अमूल्यता पर प्रकाश

को इससे अपार प्रसन्नता हुई। वह तीन ताल देकर आकाश में उछला और अपने भाग्य को बार-बार सराहने लगा। उच्च स्वर से बोलने लगा--मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है। मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर हैं। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं। मैं पहला वासुदेव होऊंगा व चक्रवर्ती होकर अन्तिम तीर्थंकर होऊंगा। मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हुए। सब कुलों में मेरा ही कुल सर्वश्रेष्ठ है।

व्यक्ति अपने मानसिक स्पन्दन, वाचिक स्फुरणा व कायिक प्रवृत्तियों से कर्म-पुद्गलों को आकृष्ट करता रहता है। अहं, छद्म व लालसा आदि व्यक्ति के कार्यों को मलिन करने के साथ-ही-साथ आत्म-भावों को भी अपवित्र करते हैं। कुल का अहं मरीचि के पवित्र जीवन को दूषित करने वाला बना।

अल्पारम्भी या बहु-आरम्भी

भरत की जिज्ञासा पूर्ण होने के अनन्तर श्री ऋषभसेन गणधर ने भगवान् से पूछा : 'भन्ते! षट्खण्डाधिप चक्रवर्ती भरत अल्पारम्भी हैं या बहु-आरम्भी? इनकी गति कौन-सी है?"

भगवान् ने उत्तर दिया--भरत अल्पारम्भी है और चरम शरीरी है; अत: इसी जन्म में मोक्षगामी है।

भगवान् द्वारा प्रदत्त वह उत्तर पानी में तेल बिन्दु की तरह अति-शीघ्र ही सारे शहर में फैल गया। कुछ उसे सुनकर हर्षित हुए और कुछ ने उसका उपहास भी किया। एक बार सम्राट् के समक्ष नगर-रक्षक ने एक चोर को उपस्थित किया। उसका अपराध प्रमाणित हो चुका था; अत: उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। चोर गिड़गिड़ाने लगा और चक्रवर्ती से अपने अपराध की क्षमा मांगने लगा। उसने आग्रहपूर्वक दूसरी बार अपराध न करने का विश्वास दिलाया। करुणाशील चक्रवर्ती ने यह कहते हुए कि चोरी छोड़ देने से चोर तो स्वत: ही समाप्त हो जाता है; अपराधी को मुक्त कर दिया।

संगीत व नाटक के मार्गों को पार कर वह पुनः भरत के पास पहुँच गया। भरत ने पूछा—क्यों तुम आ गए?

अभियुक्त—हाँ, महाराज!

भरत—नगर में आज तू ने क्या-क्या देखा?

अभियुक्त—कुछ भी नहीं देखा महाराज!

भरत—स्थान-स्थान पर होनेवाले नाटक तो देखे होंगे?

अभियुक्त—महाराज! आज तो मुझे मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता था।

भरत—कहीं संगीत तो सुना होगा?

अभियुक्त—आपकी साक्षी से कहता हूँ, मौत की गुनगुनाहट के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुना। नाटक या संगीत हो रहे होंगे, पर, मेरे लिए तो प्राणों का प्रश्न था। इधर-उधर देखकर आनन्द लूटूं या प्राण बचाकर जिन्दगी का सुख लूटूं?

भरत—मौत का इतना डर?

अभियुक्त—सम्राट्! आप उसे क्या जानें? वह तो वही जान सकता है, जिसके ऊपर बीतती है।

भरत—तो क्या मैं अमर रहूँगा? तू तो एक जीवन की मौत से डर गया। न कहीं तू ने नाटक देखा, न कहीं संगीत सुना और न कहीं ऊँची नजर ही उठाई। मैं तो मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूँ; क्या यह साम्राज्य मुझे लुभा सकता है?

अभियुक्त का सिर शर्म से झुक गया। उसे अपनी उद्दण्डता पर घृणा हुई। उसने क्षमा माँगी और अपराध-मुक्त होकर अपने घर चला गया।

भरत के सोलह स्वप्न

श्वेताम्बर परम्परा में सम्राट् चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न प्रसिद्ध हैं, किन्तु, दिगम्बर परम्परा में चक्रवर्ती भरत और सम्राट् चन्द्रगुप्त; दोनों

तो चाहेंगे, किन्तु, कर नहीं पायेंगे। ऐसा भी होगा कि वे भटक कर पथ-भ्रष्ट हो जायें और निम्न प्ररूपणायें करें।

३. भरत—एक अश्व गज से भाराक्रान्त हो रहा था।

भगवान् ऋषभदेव—अश्व मुनि का प्रतीक है। पंचम काल में मुनिजन आगे पर ऐसी सत्ताओं का आरोप मान बैठेंगे, जो उन्हें दबा देंगी। उस युग में साधु लोग शक्ति-प्राप्त करने के इच्छुक हो जायेंगे और वही शक्ति उनकी आत्मा को धर दबोचेगी।

४. भरत—अजा-समूह सूखी पत्तियाँ चर रहा था।

भगवान् ऋषभदेव—इसके दो अर्थ हैं। पंचम काल में अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष होंगे। अन्न की अत्यन्त अल्पता हो जायेगी, जिससे जन साधारण अभक्ष्य और अनुपसेव्य पदार्थों का भक्षण करेंगे। स्वास्थ्य के लिए हानिकारक पदार्थों के प्रयोग से भावी सन्तति अजा-समूह की तरह निर्बल हो जायेगी।

५. भरत—हाथी की पीठ पर एक मर्कट बैठा था।

भगवान् ऋषभदेव—हाथी सत्ता का प्रतीक है। पंचम काल में सत्ता निम्नस्तरीय (पाशविक) व्यक्तियों के हाथ में चली जायेगी। राज-सत्ता क्षत्रियों का साथ छोड़ देगी। धर्म-सत्ता मानवता से शून्य हो जायेगी। पाशविक वृत्तियाँ बढ़ेंगी और सत्ता की बन्दर-बाँट होगी। राजनीति, समाज और धर्म में छल, दम्भ, चोरी, सीनाजोरी, स्वार्थ और वैमनस्य आदि अतिशय बढ़ जायेंगे। सत्ताधिकारियों में चरित्रवान् व नैतिक व्यक्तियों की अल्पता हो जायेगी।

६. भरत—एक हंस अनगिन कौओं द्वारा मारा जा रहा था।

भगवान् ऋषभदेव—उस युग में ज्ञानी और विवेकी सज्जनों पर धूर्त आक्षेप करेंगे, उन्हें पीटेंगे और नाना प्रकार से त्रास देंगे। जैन साधुओं को अन्य मतानुयायी अनेक प्रकार की यातनायें भी देंगे।

७. भरत—प्रेत नृत्य कर रहा था।

सम्राट् भरत, इन्द्र व अन्य सभी प्राणियों को भगवान् के विरह से अपार वेदना हुई, किन्तु, नियति के सम्मुख प्रत्येक को अपनी हार माननी ही पड़ा करती है।

भरत को केवल ज्ञान की प्राप्ति

भरत चक्रवर्ती थे। षट् खण्डों में उनका अखण्ड अनुशासन था। कुबेर की तरह अखूट खजाना था; ऐश्वर्य एवं विलास के अपरिमित साधन थे, पर, वे अनासक्त भावना से ही अपना जीवन जीते थे। सब तरह से सन्तुष्ट व तृप्त थे। सांसारिक चमक उन्हें लुभा नहीं सकी थी। एक दिन भरत स्नान आदि कार्यों से निवृत्त होकर शीश महल में बैठे थे। महल में चारों ओर मानवाकार शीशे जड़े हुए थे; अतः सब ओर ही प्रतिबिम्ब पड़ता था। भरत की अंगुलि से अंगूठी निकलकर सहसा नीचे गिर पड़ी। भरत इससे अज्ञात रहे, किन्तु, दर्पण में अचानक ही उनका ध्यान अपनी हथेली की ओर गया; वह अंगुलि शोभाविहीन प्रतीत हुई। सम्राट् ने अपने मुकुट, कुण्डल, हार आदि आभूषण क्रमशः उतारे, तो वे अवयव भी नितान्त फीके लगने लगे। जो अवयव अत्यन्त शोभित हो रहे थे, वे उतने ही अशोभित हो गये। भरत का ऊर्ध्वमुखी चिन्तन हुआ। क्या वह शोभा है, जो संयोगिक होती है? क्या वह भी सुन्दरता है, जो जड़ की परिणामजा है? आभूषण जड़ हैं। मैं चेतन हूं। आभूषण विकारज हैं और मेरी सत्ता निर्विकार है। निर्विकार सत्ता की सुन्दरता क्या सविकार पदार्थ के द्वारा बढ़ती है? इस अनित्य भावना के चिन्तन के परिणामस्वरूप भरत सम्यक्त्वी से व्रती, व्रती से अप्रमत्त, अप्रमत्त से वीतराग और वीतराग से क्षीण मोह बने और चार कर्मों के नाश से केवल ज्ञानी बने। राजमहलों में, राजकीय वेश-भूषा में तथा अपने अवयवों का निरीक्षण करते हुए विरक्ति के चरम बिन्दु पर पहुंच जाना, अत्यन्त असाधारण घटना थी।

केवल ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर चक्रवर्ती ने अपना पंच मुष्टि लुंचन किया, साधु-वेश पहना व महल छोड़कर एक निर्ग्रन्थ की भांति निकल पड़े।

अन्तःपुर की रानियों, मंत्रि-परिषद् के सदस्यों, राजाओं व नागरिकों ने भरत का जब वह वेश देखा, जन समूह उमड़ पड़ा। सभी ने उसे एक विनोद समझा, किन्तु, भरत ने जब वस्तुस्थिति का उद्घाटन किया, तो इस विराग का विरह के द्वारा स्वागत हुआ। रानियों ने अनुरक्ति का, मंत्रियों ने साम्राज्य-संचालन का, नागरिकों ने भक्ति का व मित्रों ने प्रेम का पाश छोड़कर उसमें उन्हें आवद्ध करने का प्रयत्न किया, पर, हाथी के निकले हुए दाँत कब वापिस हुए ? केवली भरत ने सभी को प्रतिबोध दिया तथा विरह को विरक्ति में परिणत करने की प्रेरणा दी। हजारों राजाओं, राजकुमारों व अन्य नागरिकों ने भी विरक्त होकर उनका अनुगमन किया। बहुत समय तक संयम-पर्याय का पालन करते हुए महर्षि भरत अष्टापद पर्वत पर अनशन पूर्वक मोक्ष-धाम को प्राप्त हुए।

शीश महल का विध्वंस

सूर्ययशा चक्रवर्ती भरत का उत्तराधिकारी बना। उसने भी अपने पिता की तरह शासन-सूत्र का संचालन करते हुए महती लोकप्रियता प्राप्त की। अन्तिम समय उसी शीश महल में अनित्य भावना का चिन्तन करते हुए गृहस्थ-वेश में ही केवल ज्ञान प्राप्त किया। महायशा, अतिवल, वलभद्र आदि भरत के आठ उत्तराधिकारियों ने अपनी परम्परा का विधिवत् पालन किया। राज्य-व्यवस्था के साथ-ही-साथ धार्मिक परम्पराओं का भी परिवर्धन किया और उसी शीश महल में उसी चिन्तन के द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त किया।

नवम उत्तराधिकारी अपने पूर्वजों से विपरीत आचरण व विचार वाला हुआ। जब उसने अपने सभी पूर्वजों को एक ही महल में केवल ज्ञान उत्पन्न होने की घटना को सुना, तो वड़ा ही अन्यमनस्क हुआ। उसे यही विचार आया; "जो महल इतने वड़े साम्राज्य के सुखपूर्ण उपभोग से उपरत करता है, वह किस काम का ? यदि यह महल इसी रूप में रहा, तो न

मालूम और कितने व्यक्तियों को विरक्ति के इस जाल में फँसायेगा। मेरे पर भी कहीं इस महल का असर न हो जाये।" उसने अपने अनुचरों को आदेश देकर तत्काल उसे गिरवा दिया और अपने उस कार्य पर वह फूला नहीं समाया। सद्विचारों के उत्प्रेरक उपकरण उस व्यक्ति के पास नहीं रह सकते, जो अपने विचारों में मलिनता लिए हुए होता है।

जैन परम्परा में भरत की वंशावलि
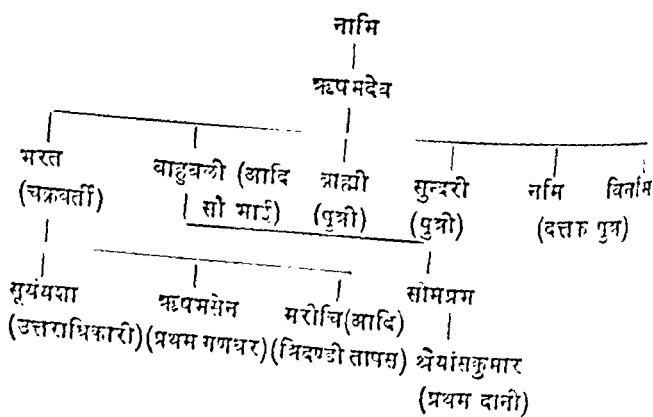
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के आधार पर

: २ :

वैदिक वाङ्मय में

वेदों में

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन परम्परा में श्लाघ्यपुरुष व मानवीय संस्कृति के आदि सूत्रधार के रूप में तो माने ही गये हैं; वैदिक परम्परा में भी स्वयं ब्रह्मा ने ऋषभदेव के रूप में आठवां अवतार ग्रहण किया था। ऋषभ-पुत्र भरत वहां भी अपने सौ भाइयों में ज्येष्ठ, शासन-सूत्र के संचालन में परम निपुण तथा निवृत्तिपरायण माने गये हैं। दोनों ही परम्पराओं में दोनों ही श्लाघ्यपुरुषों के जीवन की अधिकांश सदृशता गवेषकों के लिए बहुत कुछ नवीन तथ्यों की उद्भावक है। प्रस्तुत प्रकरण में वेद व पुराणों के आधार पर उनका जीवन तथा उस परम्परा में उनके प्रति अभिव्यक्त अनिर्वचनीयता का संक्षिप्त समुल्लेख किया जा रहा है।

वेदों में अर्हन्[1] तथा अर्हन्त[2] शब्द का प्रयोग-बाहुल्य उस परम्परा की जैन धर्म के प्रति विशेष भावना तो व्यक्त करता ही है; साथ ही

---

१. अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वा [illegible] विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे [illegible] न [illegible] त्वदस्ति॥
[illegible] सू० ३३ वर्ग १०

२. फ—३

ऋषभदेव, सुपार्श्वनाथ[1] अरिष्टनेमि[2], महावीर[3] आदि की नाम-ग्राह की गई स्तुति तथा उन्हें अनिर्वचनीय पुरुष मानकर उनके उपदेशों पर चलने की प्रेरणा भी दी गई है।

ख—अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शवसः।
प्रयज्ञं यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चामरुद्भ्यः।
—ऋग्वेद, मं० ५ अ० ४ सू० ५२

ग—तावृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदभा।
अर्हन्ताचित्पुरो दधेऽशेव देवावर्वते॥
—ऋग्वेद, मं० ५ अ० ६ सू० ८६

घ—ईडितो अग्ने मनसानो अर्हन्देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य।
स आवह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्रं नरोबर्हिषदं यजध्वं॥
—ऋग्वेद, मं० २ अ० ११ सू० ३

१. ॐ सुपार्श्वमिन्द्र हवे —यजुर्वेद,

२. क—ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा —यजुर्वेद, अ० २६

ख—तवां रथं वयमाद्या हुवेम स्तोमैरश्विना सुविताय नव्यं।
अरिष्टनेमि परियामियानं विद्यामेषं वृजनं जीरदानम्॥
—ऋग्वेद, अ० २ अ० ४ व २४

ग—वाजस्यनु प्रसव आबभूवेमा, च विश्वा भुवनानि सर्वतः।
स नेमिराजा परियाति विद्वान्, प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो
अस्मै स्वाहा।
—यजुर्वेद, अ० ९, मंत्र २५

घ—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।
—सामवेद, प्रपा० [illegible] अ० [illegible]

३ क—[illegible]।
[illegible] ॥ —यजुर्वेद, अ० १९ मं० १४

ऋग्वेद व अथर्ववेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें ऋषभदेव की स्तुति अहिंसक आत्म-साधकों में प्रथम, अवधूत चर्या के प्रणेता तथा मर्त्यों में सर्व-प्रथम अमरत्व अथवा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप में की गई है। एक स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दुःखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है :

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा अस्य शुरुधः सन्तिपूर्वीः।
दिवो न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे॥
—ऋग्वेद, ५-३८

जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं। उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और शुद्ध) आत्माएं अपने ही आत्म-गुणों में चमकती हैं; अतः वे ही राजा हैं, वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्म-पतन नहीं होने देते।

ऋग्वेद के एक दूसरे मंत्र में उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति-सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यों और देवों में पूर्वयावा माना गया है :

मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियर्मि वाचमृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीनामास मानुषीणां विशां दैवी नामुत पूर्वयावा॥
—ऋग्वेद, २।३४।२

हे आत्म-द्रष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण में आता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली हैं। उनको

१—देववह्निवर्धमानं सुवीरं, स्तीर्णं रायेसुभर वेद्यस्याम्।
घृतेनाक्तवसवः सीदतेदं, विश्वे देवा आदित्यायज्ञियासः॥
—ऋग्वेद, मं० २ अ०१ सू०३

मैं अव धारण करता हूँ। हे प्रभो ! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयावा (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो ।

कुछ मन्त्रों में उनका नामोल्लेख नहीं हुआ है, पर, उनकी आकृति को विशेष लक्ष्य करते हुए उनकी गरिमा व्यक्त की गई है :

त्रिणी राजना विदथे पुरूणि परिविश्वानिभूषथः सदांसि ।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्व्रते गन्धर्वां अपि वायुकेशान् ॥

—ऋग्वेद, ३।३८।६

दोनों ही राजा अपने त्रिरत्न ज्ञान में सभाओं के हित में चमकते हैं। वह सर्वथा निज ज्ञान में जागरूक व्रतों के पालक हैं एवं वायुकेश गंधर्वों से वेष्टित रहते हैं। वे गन्धर्व (गणधर) उनकी शिक्षाओं को अवधारण करते हैं। हमें उनके दर्शन प्राप्त हों।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा में ही परमात्मत्व का अधिष्ठान है; उसे प्राप्त करने का उपक्रम करो। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदों में उनका नामोल्लेख करते हुए कहा गया है :

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महादेवो मर्त्यानाविवेश ।

—ऋग्वेद, ४।५८।३

मन, वचन, काय; तीनों योगों से बद्ध (संयत) वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों में आवास करता है।

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य-शरीर में रहते हुए, उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था, ऐसा उल्लेख भी वेदों में है।

तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे ।

—ऋग्वेद, ३।१।१

ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देव की प्राप्ति की थी।

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप में विख्यात थे। उन्होंने जिस शासन की स्थापना की थी, उसमें मनुष्य व पशु; सभी समान थे। पशु भी मारे नहीं जाते थे।

नास्य पशून् समानान् हिनास्ति।

—अथर्ववेद

सब प्राणियों के प्रति इस मैत्रि-भावना के कारण ही वे देवत्व के रूप में पूजे जाते थे।

ऋषभं मा समासानां सपत्नानां विषासहितम्।
हन्तारं शत्रूणां कृपि विराजं गोपितं गवाम्॥

— ऋग्वेद, अ० ८ मं० ८ सू० २४

मुद्गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी के विलक्षण प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है :

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

—ऋग्वेद, १०।१०२।६

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिए नियुक्त थे; उनकी वाणी निकली, जिसके फल-स्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं, वे निश्चल होकर मौदगलानी (मुद्गल की स्वात्म-वृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

इसीलिए उन्हें आह्वान करने की प्रेरणा दी गई है :

अहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विना हुँवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥

—अथर्ववेद, कां० १९।४२।४

समस्त पापों से मुक्त, अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा, आदित्य-स्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

ऋग्वेद में उन्हें स्तुति-योग्य बताते हुए कहा गया है :

अनर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कें

—मं० १ सूत्र १९० मंत्र १

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति-योग्य ऋषभ को पूजा-साधक मंत्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

प्राग्नये वाचमीरय

—ऋग्वेद, मं० १० सू० १८७

तेस्जवी ऋषभ के लिए स्तुति प्रेरित करो।

यजुर्वेद, अ० ३१ मंत्र ८ की एक स्तुति में कहा गया है :

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पंथा विद्यतेऽयनाय॥

मैंने उस महापुरुष को जाना है, जो सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानादि अंधकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

यह स्तुति और जैनाचार्य मानतुंग द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव की स्तुति शब्द-साम्य की दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। भक्तामर स्तोत्र में वे कहते हैं :

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमान्स।
मादित्यवर्णममलं तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं।
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पंथाः।

हे ऋषभदेव भगवान् ! तुम्हें मुनिजन परम पुरुष मानते हैं। तुम सूर्य के समान तेजस्वी, मल-रहित और अज्ञान आदि अंधकार से दूर हो। तुम्हें

भली-भांति जान लेने पर ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है। हे मुनीन्द्र ! मुक्ति प्राप्त करने का और कोई सरल मार्ग नहीं है।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के शब्द और भाव देखने से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनों स्तुतियां एक ही व्यक्ति को लक्षित करके की गई हैं।

वेदों में ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है। इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्[1], डा० अलब्रेटवेबर[2], प्रो० विरुपाक्ष वाडियर[3], डा० विमलाचरण लाहा[4] प्रभृति विद्वज्जन भी करते हैं।

प्रो० विरुपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थंकरों के उल्लेखों का कारण उपस्थित करते हुए लिखते हैं : "प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था। वेद उसके तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रंथों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रन्थों में हैं और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नहीं कि हम वैदिक काल में जैन धर्म का अस्तित्व न मानें।"[5]

मनुस्मृति और पुराणों में

अरसठ तीर्थों में यात्रा करने से जो फल होता है, मनुस्मृति ने उतना फल आदिनाथ के स्मरण का माना है :

> अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
> श्रीआदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्॥

१. Indian Philosophy, VoL. 1, p. 287

२. Indian Antiquary, VoL. 3, p. 901

३. जैनपथ प्रदर्शक [आगरा] भा० ३, अं० ३, पृ० १०६

४. Historical Gleanings, p. 78

५. अजैन विद्वानों की सम्मतियां, पृ० ३१

मार्कण्डेय[1] पुराण, कूर्म[2] पुराण, वायु[3] पुराण, अग्नि[4] पुराण, ब्रह्माण्ड[5]

---

१. अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।
ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंशयः ॥

—मार्कण्डेय पुराण, अ० ५०

२. हिमाह्वय तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युतिः ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः ॥

—कूर्म पुराण, अ० ४१

३. नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिः ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्याय भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ॥

—वायु पुराण, पूर्वार्ध, अ० ३३

४. जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम् ।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः ॥
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोदात्त श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः ॥

—अग्नि पुराण, अ० १०

५. नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिम् ।
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजनम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः ॥
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।

—ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अ० १४

पुराण, वाराह[1] पुराण, लिंग[2] पुराण, विष्णु[3] पुराण, स्कन्ध[4] पुराण आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ-ही-साथ उनके माता-पिता, पुत्र आदि के नाम तथा उनकी जीवन-घटनाएं भी सविस्तार वर्णित की गई हैं।

श्रीमद् भागवत पुराण

श्रीमद् भागवत पुराण में उनके सुविस्तृत जीवन-प्रसंग प्रस्तुत करते हुए ज्ञान की सात भूमिकाओं में से पदार्थाभावना और असंसक्ति को

---

१. नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च ।

—वाराह पुराण, अ० ७४

२. नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः ।
ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ॥
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वांतगतो हि सः ॥
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम् ।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत् ॥

—लिङ्गपुराण, अ० ४७

३. न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा ।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः ॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ॥

—विष्णु पुराण, द्वितीयांश, अ० १

४. नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।

—स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्डके कौमारखण्ड, अ० ३७

भूमिकाओं के रूप में ऋषभदेव और भरत का जीवन-दर्शन विश्लेषित किया गया है। माता-पिता के नाम, सौ पुत्रों का उल्लेख, साधना के प्रकार, ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश, सामाजिक व धार्मिक नीतियों का प्रवर्तन व भरत की अनासक्ति आदि का वर्णन सविस्तार किया गया है।

श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ में अवतारों का वर्णन करते हुए बताया गया है: "राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवा के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवां अवतार ग्रहण किया। इस रूप में उन्होंने परमहंसों का वह मार्ग दिखाया, जो सभी आश्रमवासियों के लिए वन्दनीय है।"[1]

द्वितीय स्कन्ध, अध्याय सात में लीलावतारों का वर्णन करते हुए कहा गया है : "राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान् ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित रह कर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शी के रूप में उन्होंने मूढ़ पुरुषों के वेष में योग-साधना की। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस-पद अथवा अवधूत-चर्या कहते हैं।"[2]

श्रीमद् भागवत के पंचम स्कन्ध, अध्याय २ से १४ तक ऋषभदेव, भरत तथा बाद में जड़ भरत का प्रस्तुत किया गया जीवन-वृत्त संक्षिप्त रूप में यहां उद्धृत किया जा रहा है।

---

१. अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रम नमस्कृतम्॥
—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध १, अ० ३, श्लोक १३

२. नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु,
र्यो वैचचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहंस्यमृषयः पदमामनन्ति,
स्वस्थः प्रशान्तकरणः परिमुक्तसङ्गः॥
—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध २, अ० ७, श्लोक १०

नाभि ने श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भाव से उनकी आराधना की, तो उनका हृदय अपने भक्त का अभीष्ट करने के लिए उत्सुक हो गया। वे साक्षात् रूप में प्रकट हुए। ऋत्विज, सदस्य व यजमान आदि सभी उन्हें अपने बीच में पाकर अत्यन्त आह्लादित हुए। सभी ने उनकी पूजा व स्तुति की। ऋत्विज बोले—पूज्यतम! आपने हमें सर्वश्रेष्ठ वर तो यह दे ही दिया कि आप राजर्षि नाभि की यज्ञशाला में साक्षात् प्रकट हुए हैं। हम और क्या वर मांगें? किन्तु, एक प्रार्थना अवश्य है। यद्यपि उसे व्यक्त करने में संकोच अनुभव होता है, तथापि आप साक्षात् द्रष्टा हैं; अतः हम अपने हृदय को आप से छुपा भी कैसे सकते हैं? हमारे ये यजमान राजर्षि नाभि सन्तान को ही परम पुरुषार्थ मानकर आप ही के समान पुत्र पाने के लिए आपकी आराधना कर रहे हैं।

ब्रह्माजी ने कहा—"ऋषियो! आपने यह बड़ा ही दुर्लभ वर मांगा है। मेरे समान तो मैं ही हूँ, इसलिए अद्वितीय हूँ। सन्तान के रूप में किसे प्रेषित कर सकता हूँ? यह असमंजस में डालने वाली बात है; तथापि ब्राह्मणों का वचन मिथ्या नहीं होना चाहिए, क्योंकि द्विज कुल तो मेरा मुख है; अतः मैं स्वयं ही अपनी अंश-कला से नाभि के यहाँ अवतार लूँगा।" महारानी मेरुदेवी के समक्ष राजर्षि नाभि से इस तरह वचनबद्ध होकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

कुछ समय बीता। महर्षियों द्वारा पूर्णतः प्रीणित करने पर स्वयं भगवान् नाभिराज को सन्तुष्ट करने के लिए तथा दिगम्बर संन्यासी, वातरशना श्रमण और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिए महारानी मेरुदेवी के गर्भ से शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए[1]। नाभि-नन्दन का शरीर सुडौल व सुन्दर था। तेज, बल, ऐश्वर्य व पराक्रम

---

१. बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानां ऋषीणां ऊर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावततार।

आदि गुणों में अनिर्वचनीय होने के कारण उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा गया। वे जन्म से ही भगवान् विष्णु के वज्र, अंकुश आदि चिह्नों से युक्त होने तथा समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

एक बार इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य में वर्षा नहीं की। योगेश्वर भगवान् ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हंसते हुए अपनी योगमाया के प्रभाव से अपने अजनाभखण्ड भूभाग में खूब जल बरसाया। इन्द्र को भी लज्जित होना पड़ा।

ऋषभदेव का राज्याभिषेक

महाराज नाभि अपनी इच्छा के अनुरूप श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्द-मग्न हो गये। वे लोकमत का बहुत सम्मान करते थे। जब उन्होंने देखा कि जनता और मन्त्रि-परिषद् के सदस्य ऋषभदेव का बहुमान करते हैं, उनसे बड़ा प्रेम करते हैं, तो उन्होंने उन्हें धर्म-मर्यादा की रक्षा के लिए राज्याभिषिक्त कर ब्राह्मणों की देख-रेख में छोड़ दिया। स्वयं अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ बदरिकाश्रम चले गये। वहाँ उन्होंने अहिंसा-वृत्ति से कठोर तपस्या की और समाधि योग के द्वारा भगवान् वासुदेव के नर-नारायण रूप की आराधना करते हुए समय आने पर उन्हीं के स्वरूप में लीन हो गये।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभ खण्ड को कर्म भूमि मानकर लोक संग्रह के लिए कुछ काल गुरुकुल में वास किया। गुरु को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करने के लिए उनसे आज्ञा प्राप्त की। जनता को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के निमित्त देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती से विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त, दोनों प्रकार के शास्त्रोपदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए, उसके गर्भ से अपने ही समान सौ पुत्र उत्पन्न किये। उनमें महायोगी भरत सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्हीं के नाम से यह अजनाभखण्ड भारतवर्ष कहलाया। [illegible]

गये। वे सर्वथा मौन हो गये थे। कोई बात करना भी चाहता, तो वे उससे बोलते नहीं थे। जड़, अन्धे, गूँगे, बहरे, पिशाच और पागल के समान चेष्टा करते हुए, वे अवधूत बने जहाँ तहाँ विचरने लगे। कभी नगरों व गाँवों में चले जाते, तो कभी खानों व किसानों की बस्तियों, बगीचों, पहाड़ी गाँवों, सेना की छावनियों, गोशालाओं, अहीरों की बस्तियों और यात्रियों के ठहरने के स्थानों में रहते। कभी पहाड़ों, जंगलों व आश्रमों में विचरते। वे किसी भी मार्ग से निकलते तो मूर्ख व दुष्ट लोग पीछे हो जाते और उन्हें तंग करते। कोई धमकी देता, कोई डंडा मारता, कोई धूलि फेंकता, कोई थूक देता तो कुछ व्यक्ति इतनी अपमानता कर बैठते कि उन पर मल, मूत्र आदि भी फेंक देते। बुरा-भला कहकर तो तिरस्कार करनेवाले सैकड़ों ही थे। इतना होने पर भी वे इन बातों पर जरा भी ध्यान नहीं देते। इसका कारण यह था कि भ्रम से सत्य कहे जानेवाले इस मिथ्या शरीर में उनकी तनिक भी अहं व ममता नहीं थी। उनके हाथ, पाँव, छाती, लम्बी लम्बी बाँहें, कन्धे, गरदन और मुख आदि अंगों की बनावट बड़ी भव्य और मनोरम थी। प्रत्येक अंग से सुकुमारता झलकती थी, पर, उनके मुख के आगे भूरे रंग की लम्बी घुंघराली लटें लटकी रहती थीं। उनके महान् भार व अवधूतों के समान धूलि-धूसरित देह के कारण वे भूतबाधाग्रस्त व्यक्ति के समान ही जान पड़ते थे।

बीभत्सवृत्ति

जनता द्वारा अपनी साधना में नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित किये जाने के कारण भगवान् ऋषभदेव ने बीभत्सवृत्ति धारण करना उचित समझा। वे अजगरवृत्ति से रहने लगे। वे लेटे-लेटे ही खाने-पीने व चबाने लगे तथा मल-मूत्र आदि का त्याग करने लगे। वे अपने त्यागे हुए मल से [illegible] शरीर को उसमें सान लेते थे, किन्तु, उनके मल में दुर्गन्ध नहीं थी। बड़ा सुगन्ध था। तथा उस सुगन्ध को [illegible] [illegible] देश को सुवासित कर देती थी। [illegible]

गौ, मृग और काकादि की वृत्तियों को स्वीकार कर वे उनके ही समान कभी चलते हुए, कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने व मल-मूत्र का त्याग करने लगे। इस प्रकार परमहंसों को शिक्षा देने के लिए उन्होंने कई प्रकार की योग-चर्याओं का आचरण किया। वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्द का अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टि में निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों की आत्मा में किसी प्रकार का अन्तर नहीं था। उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास आकाश-गमन, मनोजवित्व (मन की गति के समान ही शरीर का भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुँच जाना), अन्तर्धान, परकाय-प्रवेश(दूसरे के शरीर में प्रवेश करना), दूर की बातें सुन लेना और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धियाँ अपने आप ही सेवा करने को आईं, किन्तु, उन्होंने उनको मन से भी स्वीकार नहीं किया।

देह-त्याग

भगवान् ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालों के भी भूषण-स्वरूप थे, फिर भी वे जड़ पुरुषों की भाँति, अवधूतों के समान विविध वेष, भाषा और आचरणों से अपने आपको छुपाये रहते थे। अन्त में उन्होंने योगियों को देह-त्याग की विधि सिखाने के लिए अपना शरीर छोड़ना चाहा। वे अपने अन्तःकरण में अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्न रूप से देखते हुए वासनाओं की अनुवृत्ति से छूटकर लिंग-देह के अभिमान से मुक्त हो गये। इस प्रकार उनका शरीर योग माया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही पृथ्वी तल पर विचरता रहा। दैववश वह कोंक, वेंक और कुटक आदि दाक्षिणात्य कर्णाटक देशों में गया और मुँह में पत्थर का टुकड़ा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्त के समान दिगम्बर रूप से कुटकाचल के वन में घूमने लगा। इसी समय वायु-वेग से झूमते हुए बाँसों की रगड़ से प्रबल दावाग्नि प्रकट हुई। उसने उस वन को जलाते हुए उसी के साथ भगवान् ऋषभदेव के शरीर को भी भस्म कर दिया।

राजा अर्हत्

जिस समय कलियुग में अधर्म की वृद्धि होगी, उस समय कोंक, वेंक और कुटक देश का मन्दमति राजा अर्हत् वहाँ के लोगों से ऋषभदेव के आश्रमातीत आचरण का वृत्तान्त सुनकर तथा स्वयं उसे ग्रहण कर, लोगों के पूर्व संचित पाप फल रूप होनहार के वशीभूत होकर, भय-रहित होकर, वैदिक मार्ग को छोड़कर अपनी बुद्धि से अनुचित और पाखण्ड-पूर्ण कुमार्ग का प्रचार करेगा। उससे कलियुग में देवमाया से मोहित अनेक अधम मनुष्य अपने शास्त्र-विहित शौच और आचार को छोड़ बैठेंगे। अधर्म-बहुल कलियुग के प्रभाव से बुद्धि-हीन हो जाने के कारण वे स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना आदि ईश्वर के तिरस्कार करने वाले पाखण्ड धर्मों को मनमाने ढंग से स्वीकार करेंगे और प्रायः वेद, ब्राह्मण एवं भगवान् यज्ञपुरुष की निन्दा करने लगेंगे। वे अपनी इस अवैदिक स्वेच्छाकृत प्रवृत्ति में अन्ध परम्परा से विश्वास करके मस्त रहने के कारण स्वयं ही घोर नरक में गिरेंगे।

भरत द्वारा राज्य-ग्रहण

भरत ने ऋषभदेव के आदेश से जब शासन-सूत्र सम्भाला, तो पंचजनी के साथ विवाह किया। उससे सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण और धूम्रकेतु नामक पाँच पुत्र हुए। वे भी अपने पिता के समान ही थे। महाराज भरत सभी विषयों के ज्ञाता थे। वे अपने-अपने कर्मों में लगी हुई प्रजा को अपने बाप-दादों के समान स्वधर्मनिष्ठ रहते हुए अत्यन्त वात्सल्य-भाव से पालन करते थे। वे होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा; इन चार ऋत्विजों द्वारा कराये जाने वाले प्रकृति और विकृति; दोनों प्रकार के अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम आदि छोटे-बड़े [illegible] श्रद्धापूर्वक [illegible] भगवान् का [illegible] थे। [illegible] भगवान् [illegible] [illegible] करते थे। इस प्रकार [illegible] [illegible] [illegible] करते।

पुलहाश्रम में

एक करोड़ वर्ष बीत जाने के बाद राज्य-भोग का प्रारब्ध क्षीण हुआ समझ कर वंश-परम्परागत अपनी सम्पत्ति को पुत्रों में बांट दिया और राजमहलों को छोड़कर पुलहाश्रम (हरिहर क्षेत्र) में चले गये। इस आश्रम में रहने वाले भक्तों पर भगवान् का बड़ा ही वात्सल्य रहता है। यहाँ वे उनसे उनके इष्टरूप में मिलते रहते हैं। यहीं पर वह सुप्रसिद्ध चक्र नदी (गण्डकी) सब ओर से ऋषियों के आश्रम को पवित्र करती रहती है।

पुलहाश्रम के उपवन में भरत अकेले ही रहते और अनेक प्रकार के पत्र-पुष्प, तुलसीदल, जल और कन्द-मूल, फलादि उपहारों से भगवान् की आराधना करते रहते। इस उपासना से उनका अन्तःकरण समस्त विषयाभिलाषाओं से निवृत्त होकर शान्त हो गया और उन्हें परम पद प्राप्त हो गया। प्रेम का वेग बढ़ता गया, आनन्द के प्रबल प्रवाह से शरीर में रोमांच होने लगा और उत्कण्ठा के कारण नेत्रों में प्रेम के आँसू उमड़ आये. जिससे उनकी दृष्टि रुक गयी। वे प्रतिक्षण भगवत्सेवा में ही तत्पर रहते थे। शरीर पर कृष्ण मृगचर्म धारण करते थे तथा त्रिकाल स्नान के कारण भीगते रहने से उनके केश भूरी-भूरी घुंघराली लटों में परिणत हो गये; जिनसे वे बड़े ही सुहावने लगते थे।

मृग का मोह

एक बार भरत गण्डकी में स्नान कर नित्य-नैमित्तिक तथा शौचादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर प्रणव का जाप करते हुए तीन मुहूर्त तक नदी की धारा के पास ही बैठे रहे। इसी समय प्यास से व्याकुल एक मृगी जल पीने के लिए वहां आई। आनन्द से पानी पीना आरम्भ किया। अचानक एक सिंह का भयानक शब्द सुनाई दिया। हिरन स्वभावतः ही डरपोक होते हैं और संयोगवश यदि ऐसा शब्द सुनाई पड़ जाये, तो उनके प्राणों पर ही आ बनती है। मृगी का कलेजा धड़कने

लगा और कातर भाव से इधर-उधर झांकने लगी। उसकी प्यास शान्
भी न हो पाई थी कि उस शब्द से और भीत होकर प्राण बचाने क
उपक्रम करने लगी। उसे अन्य कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। उस
नदी के उस पार जाने के लिए एक छलांग भरी। वह गर्भवती थी
भय से अकुला रही थी व एक ही छलांग भरने से असमय ही उस
गर्भ-पात हो गया। मृगी नदी के उस पार तो पहुंच गई, किन्तु, व
मृग-शावक बीच जल-धारा में ही गिर पड़ा। वह मृगी अपने यूथ
बिछुड़ गई थी। शारीरिक वेदना, भय व अमर्यादित छलांग भरने
वह अत्यन्त व्यथित हो गई थी। किसी भी तरह वह एक गुफा में पहुं
और मरण-धर्म को प्राप्त हो गई।

राजर्षि भरत ने यह सारी घटना देखी। उनका हृदय करुणा
भर आया। उन्होंने उस शावक को जल-धारा से बाहर निकाला, उस
परिचर्या की और उसे अपना आत्मीय समझकर अपने आश्रम में
आये। भरत के एकाकीपन का साथी एक वह मृग-छौना भी हो गय
भरत की उसके प्रति ममता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। वे प्रतिदिन उ
खाने-पीने का प्रबन्ध करने व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं से उसे बचाने, ला
लड़ाने व पुचकारने आदि की चिन्ता में ही डूबे रहने लगे। उनके य
नियम और भगवत्पूजा आदि आवश्यक कृत्य एक-एक कर छूटते
और अन्त में सभी छूट गये। उन्हें ऐसा विचार रहने लगा
कितने खेद की बात है कि कालचक्र के वेग ने इस मृग-छौने को अ
दल, सुहृद् और बन्धुओं से दूर कर मेरी शरण में पहुँचा दिया है।
मुझे ही अपना माता-पिता, साथी-संगी आदि सब कुछ मानता है।
अतिरिक्त इसे और किसी का पता भी नहीं है। मेरे में ही इसका अ
विश्वास है। मुझे इस शरणागत की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; क्यों
उसके दोषों से भी मैं पूर्णतः परिचित हूं। अब मुझे अपने इस आ
का सब प्रकार की दोष-बुद्धि को छोड़कर लालन-पालन, पोषण व र
करना चाहिए।

मृग-छौने में भरत की आसक्ति बढ़ गई और वे उसके स्नेह-पाश में पूरी तरह से आबद्ध हो गये। यहां तक कि उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते और भोजन करते समय भी उनके सिर पर उसी का भूत सवार रहने लगा। जब उन्हें कुश, पुष्प, समिधा, पत्र और फल-फूलादि लाने होते तो भेड़ियों व कुत्तों के भय से उसे वे साथ लेकर ही वन में जाते। मार्ग में जहाँ-तहाँ कोमल घास आदि को देखकर मुग्ध भाव से वह हिरण-शावक अटक जाता, तो वे अत्यन्त प्रेमपूर्ण हृदय से दयावश उसे अपने कन्धों पर चढ़ा लेते। इसी प्रकार कभी गोद में लेकर और कभी छाती से लगाकर दुलार करने में भी उन्हें बड़ा सुख मिलता। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते समय भी वे बीच-बीच में उठ-उठकर उस मृग-बालक को देखते और जब उस पर उनकी दृष्टि पड़ती, तभी उनके चित्त को शान्ति मिलती। उस समय उसके लिए मंगल-कामना करते हुए वे कहने लगते— 'बेटा! तेरा सर्वत्र कल्याण हो।'

कभी यदि वह दिखाई न देता, तो वे धन लुटे हुये दीन मनुष्य के समान अत्यन्त दुःखी हो जाते। उसके विरह से व्याकुल और सन्तप्त होकर करुणावश अत्यन्त उत्कण्ठित एवं मोहाविष्ट हो जाते तथा बड़े ही उदार होकर इस प्रकार कहने लगते—क्या वह मातृहीन मृग-छौना मेरे जैसे पुण्यहीन व अनार्य का विश्वास कर और मुझे अपना मानकर, मेरे द्वारा किये गये अपराधों को सत्पुरुषों की तरह भूलकर लौट आयेगा? क्या मैं इस आश्रम में निर्विघ्न रूप से हरी-हरी दूब को चरते हुए उसे देखूंगा? ऐसा न हो जावे कि कोई भेड़िया, कुत्ता, सूअर अथवा व्याघ्र आदि उसे चटकर जावे। सूर्य भगवान् अस्त होने को जा रहे हैं और अभी तक मृगी की वह धरोहर लौटकर नहीं आई। क्या वह हिरण राज-कुमार मुझ पुण्यहीन के पास आकर अपनी विभिन्न प्रकार की मृगशाव-कोचित मनोहर एवं दर्शनीय क्रीड़ाओं से अपने स्वजनों का शोक दूर करते हुए मुझे आनन्दित करेगा? प्रणय-कोप से जब कभी मैं खेल में झूठ-मूठ समाधि के बहाने आंख मूंद कर बैठ जाता, तो वह चकित चित्त से मेरे

तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषि के लिए समिधा ला रहे थे, तो थक कर गाय के खुर से बने हुए गड्ढे में गिर पड़े। मानो समुद्र में गिर गये हों। उन्होंने जब स्तुति की, तब भगवान् ने अवतार लेकर उनका उद्धार किया। वृत्रासुर को मारने के कारण जब इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी और उसके भय से भागकर छिप गये, तब भगवान् ने उस हत्या से इन्द्र की रक्षा की और जब असुरों ने अनाथ देवांगनाओं को बन्दी बना लिया, तब भी भगवान् ने ही उन्हें असुरों के चंगुल से छुड़ाया। जब हिरण्यकशिपु के कारण प्रह्लाद आदि संत पुरुषों को भय पहुँचने लगा, तब उनको निर्भय करने के लिए भगवान् ने नरसिंहावतार ग्रहण किया और हिरण्यकशिपु को मार डाला। उन्होंने देवताओं की रक्षा के लिए देवासुर-संग्राम में दैत्यपतियों का वध किया और विभिन्न मन्वन्तरों में अपनी शक्ति से अनेकों कलावतार धारण करके त्रिभुवन की रक्षा की। फिर वामन-अवतार ग्रहण करके उन्होंने याचना के बहाने पृथ्वी को दैत्यराज बलि से छीन लिया और देवताओं को दे दिया। परशुराम-अवतार ग्रहण करके उन्होंने ही पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रिय-हीन किया। परशुराम तो हैहयवंश का प्रलय करने के लिए मानो भृगुवंश में अग्निरूप से ही अवतीर्ण हुए थे। उन्हीं भगवान् ने रामावतार में समुद्र पर पुल बान्धा एवं रावण और उसकी राजधानी लंका को मटियामेट कर दिया। उनकी कीर्ति समस्त लोकों के मल को नष्ट करने वाली है। भगवान् राम सदा सर्वत्र विजयी ही विजयी हैं। राजन्! अजन्मा होने पर भी पृथ्वी का भार उतारने के लिए वे भगवान् यदुवंश में जन्म लेंगे और ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सकते। फिर आगे चलकर भगवान् बुद्ध के रूप में प्रकट होकर यज्ञ के अधिकारियों को अनेक प्रकार के तर्क वितर्कों से मोहित कर लेंगे और कलियुग के अन्त में कल्कि अवतार लेकर वे ही शूद्र राजाओं का वध करेंगे।

श्रीमद् भागवत में वर्णित भगवान् ऋषभदेव और भरत-सम्बन्धी जीवन-प्रसंग अन्य पुराणों में भी विवेचित हैं। विष्णु पुराण, अंश २

अध्याय १ में भगवान् ऋषभदेव की वंश-परम्परा का सविस्तार उल्लेख है। अंश २ अध्याय ११ से १६ तक भरत का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त वायु पुराण, अग्नि पुराण, गरुड पुराण, मार्कण्डेय पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, वाराह पुराण, शिव पुराण, कूर्म पुराण, लिंग पुराण आदि में भी भगवान् ऋषभदेव व चक्रवर्ती भरत के उल्लेख तथा जीवन-वृत्त पाये जाते हैं।

महाभारत में ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत का प्रसंग कहीं नहीं आया है; क्योंकि इसमें दुष्यन्त-पुत्र भरत की वंश-परम्पराओं का ही विशेषतः विवेचन किया गया है। फिर भी ऋषभ[1], नाभि[2], आदि[3], आदिकर, सर्वग[4], सर्वज्ञ[5] आदि शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। यह शब्द-प्रयोग वहाँ शिव के विशेषण के रूप में हुआ है, जो विशेषतः अनुसन्धेय है।

ज्ञान की सात भूमिकाएं

योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११८ में ज्ञान की सात भूमिकाओं का विशद विवेचन किया गया है। पांचवीं व छठी भूमिका का सम्बन्ध

---

१. ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ३१८

२. नाभिर्नन्दिकरो भावः पुष्करः स्थपतिः स्थिरः।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ९३

३. सर्वकर्मा स्वयंभूत आदिरादिकरो निधिः।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ३७

४. विभागः सर्वगो मुखः।

महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ५९

५. सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहनः।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ४०

तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषि के लिए समिधा ला रहे थे, तो थक कर गाय के खुर से बने हुए गड्ढे में गिर पड़े। मानो समुद्र में गिर गये हों। उन्होंने जब स्तुति की, तब भगवान् ने अवतार लेकर उनका उद्धार किया। वृत्रासुर को मारने के कारण जब इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी और उसके भय से भागकर छिप गये, तब भगवान् ने उस हत्या से इन्द्र की रक्षा की और जब असुरों ने अनाथ देवांगनाओं को बन्दी बना लिया, तब भी भगवान् ने ही उन्हें असुरों के चंगुल से छुड़ाया। जब हिरण्यकशिपु के कारण प्रह्लाद आदि संत पुरुषों को भय पहुँचने लगा, तब उनको निर्भय करने के लिए भगवान् ने नरसिंहावतार ग्रहण किया और हिरण्यकशिपु को मार डाला। उन्होंने देवताओं की रक्षा के लिए देवासुर-संग्राम में दैत्यपतियों का वध किया और विभिन्न मन्वन्तरों में अपनी शक्ति से अनेकों कलावतार धारण करके त्रिभुवन की रक्षा की। फिर वामन-अवतार ग्रहण करके उन्होंने याचना के बहाने पृथ्वी को दैत्यराज बलि से छीन लिया और देवताओं को दे दिया। परशुराम-अवतार ग्रहण करके उन्होंने ही पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रिय-हीन किया। परशुराम तो हैहयवंश का प्रलय करने के लिए मानो भृगुवंश में अग्निरूप से ही अवतीर्ण हुए थे। उन्हीं भगवान् ने रामावतार में समुद्र पर पुल बान्धा एवं रावण और उसकी राजधानी लंका को मटियामेट कर दिया। उनकी कीर्ति समस्त लोकों के मल को नष्ट करने वाली है। भगवान् राम सदा सर्वत्र विजयी ही विजयी हैं। राजन्! अजन्मा होने पर भी पृथ्वी का भार उतारने के लिए वे भगवान् यदुवंश में जन्म लेंगे और ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सकते। फिर आगे चलकर भगवान् बुद्ध के रूप में प्रकट होकर यज्ञ के अधिकारियों को अनेक प्रकार के तर्क वितर्कों से मोहित कर लेंगे और कलियुग के अन्त में कल्कि अवतार लेकर वे ही शूद्र राजाओं का वध करेंगे।

श्रीमद् भागवत में वर्णित भगवान् ऋषभदेव और भरत-सम्बन्धी जीवन-प्रसंग अन्य पुराणों में भी विवेचित हैं। विष्णु पुराण, अंश २

ध्याय १ में भगवान् ऋषभदेव की वंश-परम्परा का सविस्तार उल्लेख। खंड २ अध्याय ११ से १६ तक भरत का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया या है। इनके अतिरिक्त वायु पुराण, अग्नि पुराण, गरुड़ पुराण, मार्कण्डेय राण, ब्रह्माण्ड पुराण, वाराह पुराण, शिव पुराण, कूर्म पुराण, लिंग राण आदि में भी भगवान् ऋषभदेव व चक्रवर्ती भरत के उल्लेख तथा ीवन-वृत्त पाये जाते हैं।

महाभारत में ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत का प्रसंग कहीं नहीं ाया है; क्योंकि इसमें दुष्यन्त-पुत्र भरत की वंश-परम्पराओं का ही वेशेषतः विवेचन किया गया है। फिर भी ऋषभ[1], नाभि[2], आदि[3], ादिकर, सर्वग[4], सर्वज्ञ[5] आदि शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। यह शब्द-प्रयोग वहाँ शिव के विशेषण के रूप में हुआ है, जो विशेषतः अनुसन्धेय है।

ज्ञान की सात भूमिकाएं

योगवासिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११८ में ज्ञान की सात भूमिकाओं का विशद विवेचन किया गया है। पांचवीं व छठी भूमिका का सम्बन्ध

---

१. ऋषभस्त्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ३१८

२. नाभिर्नन्दिकरो भावः पुष्करः स्थपतिः स्थिरः।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ९३

३. सर्वकर्मा स्वयंभूत आदिरादिकरो निधिः।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ३७

४. विभागः सर्वगो मुखः।

महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ५९

५. सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहनः।

— महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ४०

जड़ भरत व ऋषभदेव से है। सातों भूमिकाओं[1] के नाम १. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. पदार्थाभावना और ७. तुर्यगा है।

मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषों द्वारा जानकर तत्त्व का साक्षात्कार करूँगा; इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्ष की इच्छा होने को ज्ञानी जनों ने 'शुभेच्छा'[2] कहा है।

शास्त्रों के अध्ययन, मनन और सत्संग के संग तथा विवेक-वैराग्य के अभ्यासपूर्वक सदाचार में प्रवृत्त होने को 'विचारणा'[3] कहा है।

शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रियों के विषय-भोगों में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त हो संसार में विचरण करने को 'तनुमानसा'[4] कहा है। इस भूमिका में मन शुद्ध होकर सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाता है; अतः इसे 'तनुमानसा' कहा गया है।

---

१. ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽससक्तिनामिका।
पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ५-६

२. स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ८

३. शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ९

४. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११७। १०

उपरोक्त तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से चित्त के सांसारिक विषयों से अत्यन्त विरक्त हो जाने के अनन्तर उसके प्रभाव से आत्मा का शुद्ध तथा सत्य स्वरूप परमात्मा में तद्रूप हो जाना 'सत्वापत्ति'[1] है।

चारों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से चित्त के बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारों से अत्यन्त असंग —सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर अन्तःकरण का समाधि में आरूढ़—स्थित हो जाना 'असंसक्ति'[2] है।

पूर्व पांचों भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से उस ज्ञानी महात्मा की आत्मारामता के प्रभाव से उसके अन्तःकरण में संसार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतर के किसी भी पदार्थ का स्वयं भान नहीं होता, दूसरों के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक चिरकाल तक प्रेरणा करने पर ही कभी किसी पदार्थ का भान होता है; अतः उसके अन्तःकरण की 'पदार्थाभावना'[3] हो जाती है।

पूर्व सभी भूमिकाओं के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक चिरकाल तक अभ्यास होने से जिस अवस्था में दूसरों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करने

---

१. भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११७। ११

२. दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसंगफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ता संसक्तिनामिका॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १२

३. भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १३-१४

पर भी भेदरूप संसार की सत्ता-स्फूर्ति की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु, अपने आत्माभाव में स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थिति को उसके अन्तःकरण की 'तुर्यगा'[1] भूमिका कहा गया है।

ऋषभदेव छठी पदार्थभावना और जड़ भरत असंसक्ति नामक पांचवीं भावना में स्थित हैं; ऐसा माना गया है। असंसक्ति भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा गया है : "परम वैराग्य और परम उपरति के कारण उस ब्रह्म-प्राप्त ज्ञानी महात्मा का इस संसार और शरीर से अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसे पुरुष का संसार से कोई भी प्रयोजन नहीं रहता; अतः वह कर्म करने या न करने के लिए बाध्य नहीं है। गीता[2] में कहा गया है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

उस महापुरुष का इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों से भी इनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता।

फिर भी इस ज्ञानी महात्मा पुरुष के सम्पूर्ण कर्म शास्त्र-सम्मत और कामना एवं संकल्प से शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

---

१. भूमिपट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतः॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। १५

[illegible]ाय ३, श्लो० १८

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥[1]

अतः ऐसे पुरुष को उसके सम्मान के लिए 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्था में रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति अवस्था की भान्ति संसार का बिल्कुल भान नहीं रहता और व्युत्थान-अवस्था में—व्यवहार-काल में उसके द्वारा पूर्व के अभ्यास से सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमान के बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था। उसकी किसी दूसरे के प्रयत्न बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था होती है। किन्तु, वास्तव में संसार के अभाव का निश्चय होने के कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधि के तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्था को 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।"[2]

पदार्थाभावना भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा गया है : "असंसक्ति के पश्चात् जब वह ब्रह्म-प्राप्त पुरुष पदार्थाभावना में प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरण में शरीर और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार का और शरीर के बाहर-भीतर का बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं; इसलिए उस भूमि को 'पदार्थाभावना' कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष को बाहर-भीतर के पदार्थों का ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वैसे ही इनको भी ज्ञान नहीं रहता; अतः उस पुरुष की इस अवस्था को 'गाढ़ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किन्तु, गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष के तो मन-बुद्धि अज्ञान के कारण माया में विलीन हो जाते हैं; अतः उसकी

---

१. अध्याय ४, श्लो० १९

२. ज्ञानयोग का तत्त्व, पृ० ३०४-३०५

: ३ :

बौद्ध वाङ्मय में

बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंग और निर्ग्रन्थ धर्म का उल्लेख तो बहुत स्थानों पर उपलब्ध होता है, पर, जैन और वैदिक साहित्य की तरह भगवान् ऋषभदेव व भरत के सविस्तार जीवन-प्रसंग वहां उपलब्ध नहीं होते हैं। यत्र-तत्र भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख भगवान् महावीर तथा भरत के साथ कई स्थानों पर मिलता है। 'धम्मपद' में कहा गया है :

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२२

इस पद्य में समागत उसभ (ऋषभ) और वीर शब्द प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तथा चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के लिए ही प्रयुक्त ज्ञात होते हैं। यद्यपि इस पद्य के अर्थ में कुछ विद्वानों का मतभेद है। वे इन्हें ऋषभदेव और भगवान् महावीर के लिए व्यवहृत नहीं मानते, किन्तु, कुछ विद्वानों ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए उपरोक्त अभिमत की पुष्टि की है।[1]

'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में भारत के आदिकालीन राजाओं में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ-पुत्र भरत का उल्लेख किया गया है :

प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः॥ ३९०॥

---

१. इण्डियन हिस्टोरीकल, क्वाटर्ली, भा० ३, पृ० ४७३-४७५

स्थिति तमोगुणमयी है; पर, इस ज्ञानी-पुरुष के तो मन-बुद्धि अज्ञान के कारण माया में विलीन हो जाते हैं; अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर, इस ज्ञानी-पुरुष के मन-बुद्धि ब्रह्म में तद्रूप हो जाते हैं; अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिए यह गाढ़ सुषुप्ति से अत्यन्त विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष तो निद्रा-परिपाक हो जाने पर स्वतः ही जग जाता है; किन्तु, इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुष की व्युत्थानावस्था तो दूसरों के बार-बार प्रयत्न करने पर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्था में वह जिज्ञासु के प्रश्न करने पर पूर्व के अभ्यास के कारण ब्रह्मविषयक तत्त्वरहस्य को बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषों को 'ब्रह्म विद्वरीयान्' कहते हैं।"[1]

: ३ :

बौद्ध वाङ्मय में

बौद्ध साहित्य में भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंग और निर्ग्रन्थ धर्म का उल्लेख तो बहुत स्थानों पर उपलब्ध होता है, पर, जैन और वैदिक साहित्य की तरह भगवान् ऋषभदेव व भरत के सविस्तार जीवन-प्रसंग वहाँ उपलब्ध नहीं होते हैं। यत्र-तत्र भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख भगवान् महावीर तथा भरत के साथ कई स्थानों पर मिलता है। 'धम्मपद' में कहा गया है :

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ ४२२

इस पद्य में समागत उसभ (ऋषभ) और वीर शब्द प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तथा चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के लिए ही प्रयुक्त ज्ञात होते हैं। यद्यपि इस पद्य के अर्थ में कुछ विद्वानों का मतभेद है। वे इन्हें ऋषभदेव और भगवान् महावीर के लिए व्यवहृत नहीं मानते, किन्तु, कुछ विद्वानों ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए उपरोक्त अभिमत की पुष्टि की है।[1]

'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में भारत के आदिकालीन राजाओं में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ-पुत्र भरत का उल्लेख किया गया है :

प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः॥ ३९०॥

---

१. इण्डियन हिस्टोरीकल, क्वाटर्ली, भा० ३, पृ० ४७३-४७५

[illegible]

[illegible] ॥३१॥

इस ग्रन्थ में एक [illegible] के साथ भी [illegible] उल्लेख किया गया है।

नैयायिक धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ के उदाहरण में भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर का नामोल्लेख किया है।

आर्यदेव द्वारा [illegible] में भी भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख किया गया है, किन्तु, उसकी मूल संस्कृत-प्रति प्राप्य नहीं है। इस ग्रन्थ का चीनी रूपान्तर मिलता है, जिसमें कपिल, उलूक आदि ऋषियों की मान्यता के साथ निर्ग्रन्थरूप में भगवान् ऋषभदेव की मान्यता का निरूपण किया गया है: "कपिल, उलूक (कणाद), ऋषभ आदि ऋषिगण 'भगवत्' कहलाते हैं। ऋषभ के शिष्य-गण निर्ग्रन्थों के धर्म-ग्रन्थों का पाठ करते हैं। वे ऐसे कहते हैं: "तपस्या करो और केश-लुंचन आदि क्रियाएँ करो, जो पुण्यमय हैं। साथ ही कुछ ऐसे शिक्षक हैं, जो उपवास और प्रायश्चित्त करते, अग्नि तपते, सदा खड़े रहते, मौन रखते, पर्वत-शिखर से गिरते अथवा ऐसी क्रियाएँ करते जो उन्हें गौ-सदृश बनाती थीं। वे इन क्रियाओं को पुण्यशाली मानते हैं। वे उनको अति शुक्ल धर्म कहते हैं।'[3]

त्रिशास्त्र-सम्प्रदाय के संस्थापक श्री चि-त्सांग ने उपरोक्त कथन पर विवेचन करते हुए चीनी भाषा में लिखा है: "ऋषभ एक तपस्वी ऋषि

---

२. कपिल मुनिनाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभनिर्ग्रन्थ रूपि।

—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प

३. यः सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। —न्यायबिन्दु

१. तैशोत्रिपिटिक, भा० ३३, पृ० १६८

है। उनका उपदेश है कि हमारे शरीर को सुख और दुःख का अनुभव करना होता है, दुःख जो हमारे पूर्व-संचित कर्मों का फल है, कदाचित् इस जीवन में तपस्या द्वारा समाप्त हो जाता है और सुख उसी समय प्रकट हो जाता है। उनके धर्म ग्रन्थ 'निर्ग्रन्थ सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं और उनमें हजारों कारिकायें हैं।"

श्री चि-त्संग ने उनाय हृदयशास्त्र में भगवान् ऋषभदेव के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है। यद्यपि इनमें कुछ मौलिक त्रुटियां रह गई हैं, तथापि वे मननीय हैं। वहां बताया गया है: "उनके [ऋषभ के] मूल सिद्धांत में पांच प्रकार का ज्ञान, छः आवरण (कर्म) और चार बुरे कषाय हैं। पांच प्रकार का ज्ञान—१. श्रुत, २. मति, ३. केवल, ४. मनः पर्यव और ५. अवधि है। छः आवरण—१. दर्शनावरणी, २. वेदनीय, ३. मोहनीय, ४. आयुष्य, ५. गोत्र और ६. नाम हैं। चार कषाय–१. क्रोध, २. मान, ३. लोभ और ४. माया हैं। वे मानते हैं कि निमित्त (Cause) में परिणाम (Effect) होते हैं और नहीं भी होते हैं। द्रव्य एक है और नहीं भी है। ये उनके मौलिक सिद्धांत हैं। यही कारण है कि ऋषभ 'भगवत्' कहे जाते हैं।"[१]

षट् शास्त्र में उल्लिखित कपिल, उलूक आदि ऋषियों के बारे में अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए श्री चि-त्संग ने लिखा है: "उन सब ऋषियों के मत ऋषभदेव के धर्म की शाखायें हैं।"[२] आगे वे लिखते हैं: "वे उपवास तो ऋषभ की भांति करते थे। परन्तु, उनमें से कुछ दिन भर में फल के तीन टुकड़े लेते थे, अन्य पवन-भक्षण करते अथवा घास खाते थे। वे मौन धारण करते थे।"

---

१. A Commentary on the Sata Sastra, 1, 2., Taisho-tr. Vol. 42, P. 244.

२. These teachers are offshoots of the sect o Rsisabha.

'स्वर्णसप्ततिटीका' में भगवान् ऋषभ द्वारा निरूपित हेतुवाद (तर्क) का भी श्री चि-त्संग ने उल्लेख किया है।

श्री चि-त्संग ने तैशोत्रिपिटक में भगवान् श्री महावीर की मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। उनमें छः आवरण मुख्य हैं, किन्तु, भगवान् ऋषभदेव के सिद्धान्तों में विवेचित छः आवरणों में और यहाँ विवेचित छः आवरणों में कुछ अन्तर है। सम्भव है, सैद्धान्तिक मान्यताओं का विवेचन करते हुए कुछ असावधानी रह गई हो। वहाँ लिखा गया है : "१. दर्शनावरणीय, २. वेदनीय, ३. मोहनीय, ४. आयुष्य, ५. अन्तराय और ६. नाम; इनकी विपक्षी शक्तियां छः ऐश्वर्य हैं। वह वस्तु-विवेचना सर्वथा 'न सद्-रूप है, न असद्-रूप है' ऐसे करते हैं। वे मौन रहते हैं और ऐसे चारित्रिक नियमों का पालन करते हैं, जो उनको गौ-जैसा शान्त बना दे, जैसे कि वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोष' में बताया गया है। वे अपने नेत्र एक बिन्दु पर केन्द्रित रखते हैं, मस्तक झुकाये रखते हैं, घास-(शाक) भक्षण करते हैं और वे मानते हैं कि इस प्रकार वे गोवत् चर्या करते हैं।"[१]

: ४ :

इतिहास के सन्दर्भ में

जैन धर्म अनादि है। प्रत्येक काल-चक्रार्ध के उत्सर्पण और अवसर्पण में चौबीस तीर्थंकर होते हैं, जो कालक्रम से अपवर्तन के चक्र में फँसे हुए धर्म को उद्वर्तन देते हैं। उद्वर्तन और अपवर्तन की नाना प्रक्रियाओं को कुछ अनुसन्धाता ऐतिह्य तथ्यों के आधार पर परखने के अनन्तर जब कुछ तथ्य प्रकट करते हैं, तब वह केवल श्रद्धा-गम्य ही नहीं रह जाता, अपितु तर्क-गम्य भी हो जाता है। चौबीस तीर्थंकर श्रद्धा गम्य तो हैं ही, तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर की ऐतिहासिकता में अब सन्देह नहीं रह गया है तथा बावीसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि भी कुछ विद्वानों द्वारा ऐतिहासिक पुरुष माने जा चुके हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय तक इतिहास अभी नहीं पहुँच पाया है, फिर भी जहाँ तक वह पहुँचा है, भगवान् ऋषभदेव के बारे में भी अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मोहन-जो-दड़ों की खुदाई से प्राप्त होने वाली मुहरों में कुछ पर एक ओर नग्न ध्यानस्थ योगी की आकृति है और दूसरी ओर वृषभ का चिह्न है। वृषभ भगवान् ऋषभदेव का लांछन था; अतः यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि उस समय में भी उनकी पूजनीयता प्रसिद्ध थी।

दो हजार वर्ष पूर्व राजा कनिष्क तथा हुविष्क आदि के शासन में हुई खुदाई में प्राप्त शिलालेख मथुरा के संग्रहालय की आज भी शोभा बढ़ा रहे हैं। डा० फुहरर ने उन शिलालेखों से प्राचीन इतिवृ

कर यह निर्णय दिया था कि प्राचीन समय में जैनी ऋषभदेव की मूर्तियाँ बनाते थे।

श्री विंसेण्ट ए० स्मिथ का कहना है : "मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्परा के समर्थन में विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बतलाती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भी अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता में दृढ़ विश्वास था।"[1]

जर्मन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी,[2] जिन्होंने तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता पर महत्वपूर्ण अनुसन्धान किया था, अपनी गवेषणा के

---

1. The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form. The series of twentyfour pontiffs (Tirthankaras , each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the christian era.

—The Jain stup —Mathura, Intro. p. 6

2. There is nothing to prove that parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara.

-- Indian Antiquary, vol. ix P. 163

अनन्तर कहते हैं : "पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रणेता या संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।"

श्री स्टीवेन्सन की गवेषणा डा० हर्मन जेकोबी के अभिमत की पुष्टि करती है। वे लिखते हैं : "जब जैन और ब्राह्मण; दोनों ही ऋषभदेव को इस कल्प-काल में जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो इस मान्यता को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।"[1]

वरदाकान्त मुखोपाध्याय एम० ए० ने विभिन्न ग्रन्थों तथा शिलालेखों का अध्ययन करने के अनन्तर आत्म-विश्वास के साथ यह अभिमत प्रकट किया था : "लोगों का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे, किन्तु, इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि में प्रमाणों का अभाव नहीं है।"[2]

कुछ विद्वानों व गवेषकों ने तीर्थंकरों के बारे में तो अपना अभिमत प्रकट नहीं किया है, पर, वे अपने अनुसन्धान के आधार पर जैन धर्म को सृष्टि का आदि धर्म, प्रागैतिहासिक धर्म, अतिप्राचीन धर्म तथा स्वतंत्र धर्म प्रमाणित करते हैं।

सन् १८१७ में इस्ट इंडिया कम्पनी ने सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड एब्बे जे० ए० डुबाई द्वारा फ्रांसीसी भाषा में लिखित पुस्तक का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया था। जैन धर्म के बारे में अपना अभिमत

---

1. It is so seldom that Jains and Brahmanas agree; that I do not see how we can refuse them credit in this instance, where thev, do so.

—Kalpa sutra, Intro, P. XVI

२. जैन धर्म की प्राचीनता, पृ० ८

व्यक्त करते हुए वहाँ लिखा गया है : "निस्सन्देह जैन धर्म ही सारे संसार में एक सच्चा धर्म है और यही समस्त मनुष्यों का आदि धर्म है।"[1]

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैन धर्म को अनादि मानते हुए लिखते हैं : "ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि जैन धर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद तथा मतभेद से रहित है। सुतरां इस विषय में इतिहास के सबल प्रमाण हैं।......जैन धर्म प्राचीनता में पहले नम्बर है। प्रचलित धर्मों में जो प्राचीन धर्म हैं, उनमें भी यह प्राचीन है।"[२]

संस्कृत कालेज वाराणसी के प्राध्यापक महामहोपाध्याय पंडित राममिश्र शास्त्री ने जैनधर्म को प्राचीनता को सप्रमाण स्वीकार करते हुए कहा है : "जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ, जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ। इसमें मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है।"

सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० मेक्समूलर जैन धर्म को किसी भी धर्म की शाखा मानने को तैयार नहीं हैं। वे लिखते हैं : "विशेषतः प्राचीन भारत में किसी भी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी। जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है। वह उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है।"

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मेजर जनरल जे० सी० आर० फर्लांग एफ० आर० एस० ई० ने जैन धर्म के बारे में जो अपना अभिमत व्यक्त

1. Yea, his (Jain) religion is the only true one upon earth, the premitive faith of all man kind.
—Description of the character, manners and customs of the people of India and of their institutions religious and civil.

२. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ [illegible] मार्च, ५६, पृ० ११७-११८

किया है, वह पूर्व विचारों को अच्छी तरह से पुष्टि कर देता है। उनकी सुदृढ़ मान्यता थी कि ईसा से अनगिनत वर्ष पूर्व भारत में जैन धर्म फैला हुआ था। आर्य लोग जब भारत में आये, तब यहां जैन धर्म के अनुयायी अवस्थित थे। बौद्ध धर्म ने प्राचीन इसाई धर्म को कैसे प्रभावित किया, इस प्रश्न को समाहित करते हुए वे लिखते हैं: "बौद्ध धर्म ने प्राचीन ईसाई धर्म को कौनसे ऐतिहासिक साधनों से प्रभावित किया, इसकी गवेषणा करते हुए यह निस्सन्देह स्वीकार करना होगा कि इस धर्म ने जैन धर्म को स्वीकार किया था, जो वास्तव में अरबों-खरबों वर्षों से करोड़ों मनुष्यों का प्राचीन धर्म था।"[1]

"जैन धर्म के आरम्भ को जान पाना असम्भव है।"[2]

"भारतवर्ष का सबसे प्राचीन धर्म जैन धर्म ही है।"[3]

१६ सितम्बर १९५९ को जापान के शिमिजू नगर में विश्व धर्म परिषद् की आयोजना की गई। बर्मा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मा० यूचान तुन आंग ने अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए वहाँ कहा था:

---

1. Through what historical channels did Budhism influence early christianity, we must widen this enquiry by making it embrace. Jainism the undoubtedly prior faith fo very many millions through untold millenniums.

—The short study in science of comparative religion. (Intro., p.I.)

2. It is impossible to find a beginning for jainism. (I. bid, p. 13)

3. jainism thus appears an earlist faith of India. (I. bid, p. 15)

विदेशों में

सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड ऐब्बे जे० ए० डुवाई ने अपनी फ्रांसीसी
। की पुस्तक में लिखा है : "एक युग में जैन धर्म सारे एशिया में
बेरिया से राजकुमारी तक और केस्पियन झील से लेकर केम्स चटका
ो तक फैला हुआ था।" रेवरेण्ड डुवाई के इस मत की पुष्टि में
णों की अल्पता नहीं है। विदेशों में बहुत सारे स्थानों पर खुदाई
ीर्थंकरों की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियां प्राप्त हुई हैं तथा वहाँ की
श्रुतियों में प्रसिद्ध नाना घटनाएं भी इस तथ्य का विशद उद्घाटन
ती हैं। भगवान् ऋषभदेव विदेशों में पूज्य रहे हैं तथा वहाँ 'कृषि के
ता,' 'वर्षा के देवता' और 'सूर्यदेव' के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। डा०
मता प्रसाद जैन ने उन सब मान्यताओं का विद्वानों को नाना
ाण:ाओं के आधार पर वर्गीकरण करते हुए लिखा है : "पूर्व में चीन
र जापान भी उनके नाम और काम से परिचित हैं। चीनी त्रिपिटक में
नका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको "रोकशब" (Rok' shab)
ह कर पुकारते हैं! मध्य एशिया, मिश्र और यूनान में वे सूर्यदेव ज्ञान
ी अपेक्षा से और फोनेशिया में "रेशेफ" नाम से बैल चिन्ह की अपेक्षा
हलाये। मध्य एशिया में वृषभ (बैल) देव (Bull god) अर्थात्
'बाड आल" नाम से उल्लिखित किए गये। फणिक लोगों की भाषा मे
"रेशेफ" शब्द का अर्थ 'सींगों वाला देवता" होता है, जो ऋषभ के
बैल चिह्न का द्योतक है—साथ ही "रेशेफ" शब्द का साम्य भी
"ऋषभ" शब्द से है। प्रो० आर० जी० हर्ष ने "बुलेटिन आव दी
डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट" (भा० १४, खण्ड ३, पृ० २२६-२३६)

"जैन धर्म संसार के ज्ञात सभी प्राचीन धर्मों में से एक है और उसका घर भारत है[1]।"

डा० जिम्मर जैन को धर्म को प्राग् ऐतिहासिक व वैदिक धर्म से स्वतन्त्र तथा प्राचीन मानते हुए लिखते हैं: "ब्राह्मण-आर्यों से जैन धर्म की उत्पत्ति नहीं हुई है, अपितु वह बहुत प्राचीन, प्राग्-आर्य उत्तर-पूर्वी भारत की उच्च श्रेणी के सृष्टि-विज्ञान और मनुष्य के आदि विकास तथा रीति-रिवाजों के अध्ययन को व्यक्त करता है[2]।"

जैन धर्म की प्रगैतिहासिकता, अतिप्राचीनता तथा अनादिता में विश्वास होने से भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व में भी सहज आस्था हो जाती है। भरत के बारे में ऐसा कोई स्वतन्त्र तथा स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु, भगवान् ऋषभदेव की परम्परा के अनन्य वाहक के रूप में इतिहासकारों के लिए भरत अभिप्रेत हो ही जाते हैं।

---

1. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ अंक ७ अक्टूबर १९५६, पृ० ३०५
2. Jainism, does not derive from Brahman Aryan sources, but reflects the cosmology and anthropology of a much old, pre-Aryan upper class of north-eastern India.

—The philosophies of India, P. 217

: ५ :

विदेशों में

सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड ऐब्बे जे० ए० डुबाई ने अपनी फ्रांसीसी भाषा की पुस्तक में लिखा है : 'एक युग में जैन धर्म सारे एशिया में साइबेरिया से राजकुमारी तक और कैस्पियन झील से लेकर केम्स चटका खाड़ी तक फैला हुआ था।'' रेवरेण्ड डुबाई के इस मत की पुष्टि में प्रमाणों की अल्पता नहीं है। विदेशों में बहुत सारे स्थानों पर खुदाई में तीर्थंकरों की विभिन्न मुद्राओं में मूर्तियां प्राप्त हुई हैं तथा वहां की अनुश्रुतियों में प्रसिद्ध नाना घटनाएं भी इस तथ्य का विशद उद्घाटन करती हैं। भगवान् ऋषभदेव विदेशों में पूज्य रहे हैं तथा वहां 'कृषि के देवता,' 'वर्षा के देवता' और 'सूर्यदेव' के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। डा० कामता प्रसाद जैन ने उन सब मान्यताओं का विद्वानों की नाना गवेषणाओं के आधार पर वर्गीकरण करते हुए लिखा है : ''पूर्व में चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित हैं। चीनी त्रिपिटक में उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको ''रोकशब'' (Rok' shab) कह कर पुकारते हैं। मध्य एशिया, मिश्र और यूनान में वे सूर्यदेव ज्ञान की अपेक्षा से और फोनेशिया में ''रेशेफ'' नाम से बैल चिन्ह की अपेक्षा कहलाये। मध्य एशिया में वृषभ (बैल) देव (Bull god) अर्थात् ''बाड आल'' नाम से उल्लिखित किए गये। फणिक लोगों की भाषा में ''रेशेफ'' शब्द का अर्थ 'सींगों वाला देवता'' होता है, जो ऋषभ के बैल चिह्न का द्योतक है—साथ ही ''रेशेफ'' शब्द का साम्य भी ''ऋषभ'' शब्द से है। प्रो० आर० जी० हर्षे ने 'बुलेटिन आफ दी डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट'' (भा० १४, खण्ड ३, पृ० २२९-२३६)

में एक गवेषणात्मक लेख निकालकर इस साम्य को स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया कि आलसिफ (साइप्रेस) से प्राप्त अपोलो (सूर्य) की ई० पूर्व १२ वीं शती की मूर्ति का अपर नाम "रेशेफ" (Reshef) उसके लेख से स्पष्ट होता है। यह रेशेफ ऋषभ का ही अपभ्रंश रूप है और यह ऋषभ भारतीय नरेश नाभिपुत्र होना चाहिये। यूनान में सूर्यदेव अपोलो की ऐसी नंगी मूर्तियां मिली हैं, जिनका साम्य ऋषभ भगवान् की मूर्तियों से है। डा० कालिदास नाग ने मध्य एशिया में डेल्फी से प्राप्त एक आर्गिव मूर्ति का चित्र अपनी पुस्तक "डिस्कवरी आव एशिया" में दिया है, जो लगभग दस हजार वर्ष पुराना है और बिल्कुल भगवान् ऋषभ की दिगम्बर जैन मूर्तियों के समान है। ऋषभ-मूर्ति की विशेषता कन्धों पर लहराती जटाएं इसमें भी हैं। "अर्गिव" शब्द का अर्थ कदाचित् अग्रमानव या अग्रदेव के रूप में लिया जा रहा प्रतीत होता है।

फणिक लोग जैन धर्म-भक्त भी थे, यह बात जैन कथा-ग्रन्थों से प्रमाणित है। अतः फणिकों के "बाउल" (Bull God) ऋषभ प्रतीत होते हैं। यह नाम प्रतीकवाद शैली का (Symbolic) है।[1]

---

[1] भाग ७, पृ० ४

: ६ :

भारतवर्ष का नामकरण

इस देश का नामकरण कैसे हुआ, यह एक जटिल प्रश्न है। इसको समाहित करने के लिए जैन और वैदिक परम्पराओं के प्राचीनतम तथा ऐतिह्य साहित्य का अनुसन्धान अपेक्षित होगा। प्रत्येक विचारक इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही जाते हैं कि चक्रवर्ती भरत के नाम से इस देश का नामकरण हुआ है। किन्तु, यह चक्रवर्ती भरत कौन था, इस विषय में सभी विचारक एक मत नहीं हैं। जैन परम्परा में १. भरत, २. सगर, ३. मघवा, ४. सनत्कुमार, ५. शान्ति, ६. कुन्थु, ७. अर, ८. सुभूम, ९. पद्म, १०. हरिषेण, ११. जय, १२. ब्रह्मदत्त आदि १२ चक्रवर्तियों[1] का उल्लेख है। वैदिक परम्परा में १. मान्धाता, २. धुन्धुमार, ३. हरिश्चंद्र, ४. पुरूरवा, ५. भरत और ६. कार्तवीर्य; ये छः चक्रवर्ती[2] माने गये हैं। जैन परम्परा के प्रथम चक्रवर्ती भरत प्रथम तीर्थंकर तथा आठवें अवतार ऋषभदेव के सबसे बड़े पुत्र हैं; यह मान्यता जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराओं की है। वैदिक परम्परा में प्रथम चक्रवर्ती भरत को चक्रवर्ती तो नहीं माना गया है, पर, एक अनासक्त योगी, विशिष्ट राजा तथा तत्त्वज्ञानी पुरुष माना गया है। पांचवें चक्रवर्ती भरत केवल वैदिक परम्परा में ही चक्रवर्ती माने गये हैं, जो राजा दुष्यन्त के पुत्र थे।

---

१. आवश्यकवृत्ति, मलयगिरि, पत्र सं० २३७

२. मान्धाता धुन्धुमारश्च हरिश्चन्द्रः पुरूरवाः।
भरतः कार्तवीर्यश्च षडेते चक्रवर्तिनः॥
—सटीक अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड

नामकरण के बारे में नाना विचारकों की नाना कल्पनाओं ने सहज उभार लिया है। मत्स्यपुराणकार की मान्यता है : "मनुष्यों की उत्पत्ति व भरण-पोषण करने से मनु भरत कहलाता है और उसी के नाम की व्याख्या के अनुसार इस देश को 'भारत' कहा जाता है।"[1] किन्तु, कौन-सा मनु भरत कहा जाये ?

'भरत चक्रवर्ती भारतं भुङ्क्ते—शास्तीति भारतवर्षं'- भरत चक्रवर्ती भारत का उपभोग करता है तथा शासन करता है; अतः उस देश का नाम भारतवर्ष है। यह कथन भी निरुक्त-वचन जैसा ही प्रतीत होता है और केवल संगति बैठाने का प्रयत्न मात्र है। इससे यह ध्वनित नहीं हो सकता कि कौन से भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ। प्रस्तुत लक्ष्य की पूर्ति के लिए जैन और वैदिक परम्पराओं के मौलिक शास्त्रों, अनुश्रुतियों व ऐतिह्य तथ्यों को एक-एक कर परखना होगा।

जैन साहित्य में

जैन-आगम साहित्य में भरतक्षेत्र का उल्लेख बहुत स्थानों पर मिलता है। धर्मकथानुयोग के प्रकरणों में, जहाँ से कथारम्भ होता है, वहाँ जम्बूद्वीप व भरतक्षेत्र के उल्लेख के अनन्तर ही राजधानी या नगर का वर्णन किया गया है। चक्रवर्ती भरत[2] जब प्रव्रजित होकर राज-प्रासादों से निकल पड़ते हैं, वहाँ भरतक्षेत्र के साम्राज्य को छोड़ने का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार वहाँ अन्य चक्रवर्तियों[3] के साम्राज्य-त्याग के साथ 'भरत-

---

१. भरणात् प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम् ॥
—मत्स्य पुराण, अध्याय ११४, पृ० ८८

२. भरहो वि भरहं वासं चिच्चा कामाइ पव्वए।
—उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १८, गा० ३४

३. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १८, गा० ३५, ३६, ३८, ४०, ४१

क्षेत्र' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जम्बूद्वीप पण्णत्ति[1] में भरतक्षेत्र विस्तार, उसके प्रमुख नगर, पहाड़ों तथा नदियों का पूरा अधिकार है। वहाँ भरतक्षेत्र के नामकरण के बारे में कहा गया है कि इस क्षेत्र में भरत नामक एक महर्धिक, महाद्युतिवंत, पल्योपम-स्थिति वाले देव का वास है। उनके नाम से इस क्षेत्र का नाम भरतक्षेत्र है अथवा यह नाम शाश्वत है; अर्थात् अतीत में यही नाम था, वर्तमान में यही है और भविष्य में भी यही रहेगा।

आगम-साहित्य में भरतक्षेत्र शब्द का प्रयोग है, पर, भारतवर्ष का प्रयोग विरल भी दृष्ट नहीं है। उन प्रसंगों का अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि भरतक्षेत्र और भारतवर्ष दोनों भिन्न-भिन्न हैं। भारतवर्ष तो भरतक्षेत्र का एक प्रदेश विशेष है। किन्तु, 'भारहं वासं' शब्द-प्रयोग से भारतवर्ष का ग्रहण न कर भरतक्षेत्र का ग्रहण किया गया है, जो गवेषणा का एक सुन्दर प्रकरण बन जाता है। आगमेतर साहित्य में भारतवर्ष का स्वतन्त्र उल्लेख मिलता है और उनके आधार पर विद्वान्[3] यह प्रमाणित करते हैं कि भारतवर्ष का नामकरण स्वतन्त्र हुआ है और वह भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर हुआ है।

वसुदेवहिंडी में कहा गया है : "सुर-असुरों द्वारा सेवित, जगत्प्रिय ऋषभदेव प्रथम राजा थे। उनके सौ पुत्र थे। भरत और बाहुबली उनमें प्रमुख थे। भगवान् ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को सारा राज्य देकर

---

१. भरतक्षेत्राधिकार

२. भरहे अइत्यदेवे महिड्ढिए महज्जुए जावपलिओवमठिइए परिवसइ से एएणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ भरहेवासं। अदुत्तरं च णं गोयमा! भरहस्सवासस्स सासए णामधिज्जे पण्णत्ते।

३. जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान, पृ० ९

उसका शासन करते थे। भारतवर्ष का सुशासित प्रदेश था। उन्हीं के नाम से ही यह देश भारतवर्ष कहलाता है।"[1]

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में चक्रवर्ती भरत के प्रसंग में कहा गया है : "भरत चक्रवर्ती और देव के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ और भारतवर्ष से उनका।"[2]

इस तरह भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ, ऐसा उल्लेख विरल भी नहीं मिलता।

पुराण-साहित्य में

श्रीमद् भागवत के अनुसार भारतवर्ष का प्राचीन नाम अजनाभ खण्ड था। आठवें अवतार भगवान् ऋषभदेव के समय तक यही नाम रहा। भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र अनासक्त योगी भरत जब शासक बने, तो उनके नाम से इस भूभाग का नाम बदल कर भारतवर्ष[3] हो गया। श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ११, अध्याय २ में उपरोक्त अभिमत को दुहराकर उसकी पुष्टि की गई है तथा अन्य पुराण भी इसी स्वर को उदात्त करते हैं। मारकण्डेय[4] पुराण में स्पष्ट कहा गया है कि आग्नीध्र

---

१. तत्थ भरहो भरहवास चूडामणी, तस्सेव नामेण इहं भारहवासं ति पव्वुच्चति। —वासुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, पृ० १६८

२. भरतनाम्नश्चक्रिणो देवाच्च भारतवर्षं नाम प्रवृत्तं भारतवर्षाच्च तयोर्नाम।

३. येषां खलु महायोगी ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति। —श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ५, अ० ४।९

४. अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंशयः॥

के पुत्र नाभि थे और उनके पुत्र श्री ऋषभदेव। श्री ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें भरत अग्रणी थे। श्री ऋषभदेव ने भरत का राज्याभिषेक किया और स्वयं पुलहाश्रम में तप का अनुष्ठान करने लगे। उन्होंने भरत को हिमालय से दक्षिण का राज्य दिया जो उनके नाम से भारतवर्ष कहलाया। वायु पुराण[1], अग्नि पुराण[2], नारद पुराण[3], विष्णु पुराण[4], गरुड़ पुराण[5], ब्रह्माण्ड पुराण[6], वाराह पुराण[7], लिंग पुराण[8], स्कन्ध पुराण[9], शिव

हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥
—अध्याय ५०, श्लोक ३९ से ४१

१. हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥
—अध्याय ३३, श्लो० ५२

२. भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।
—अध्याय १०, श्लो० १२

३. आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठो भरतो नाम भूपतिः।
आर्षभो यस्य नामेदं भारतं खण्डमुच्यते॥
—अध्याय ४८, श्लो० ५

४. ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशताग्रजः।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते॥
—अंश २, अध्याय १, श्लो० ३२

५. अध्याय १, श्लो० १३

६. सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः॥
—अध्याय १४, श्लो० ६१

७. हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास। —अध्याय ७४

८. तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।
—अध्याय ४७, श्लो० २४

९. तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते।
—अध्याय ३७, श्लो० ५७

जनमानस को पूर्णतया अपना ओर आकर्षित कर लिया हो और उस आकर्षण में ही विद्वानों ने उपरोक्त पद का देश के नामकरण के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया हो। अतः उस युग में भारतवर्ष की कीर्ति फैली, यही अर्थ विशेषतः संगत प्रतीत होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल, अंक ७ का प्रसिद्ध श्लोक है :

रथेनानुद्घातः स्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ।

इस श्लोक के अनुवाद में राजस्थान संस्कृत कालेज, वाराणसी के प्रधानाचार्य श्री सीताराम शास्त्री ने लिखा है : "इसी भरत के नाम से हमारा यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।" किन्तु, उपरोक्त श्लोक में इस प्रकार का कहीं भी संकेत नहीं है। यह केवल उनकी अपनी वैयक्तिक धारणा है।

श्रीमद् भागवत पुराण में दुष्यन्त-पुत्र भरत का वंश-परम्परा, उसका व्यक्तित्व व वर्चस्व, राज्य-व्यवस्था आदि का सविस्तार उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है : "पिता दुष्यन्त की मृत्यु हो जाने के बाद वह परम यशस्वी बालक चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। उसका जन्म भगवान् के अंश से हुआ था, इसलिए आज भी पृथ्वी पर उसकी महिमा का गायन किया जाता है। उसके दाहिने हाथ में चक्र का चिन्ह था और पैरों में कमल-कोष का। महाभिषेक की विधि से राजाधिराज के पद पर उसका अभिषेक हुआ। भरत की शक्ति अपार थी। भरत ने ममता के पुत्र दीर्घतमा मुनि को पुरोहित बनाकर गंगा-तट पर गंगासागर से लेकर गंगोत्रीपर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये। इसी प्रकार यमुना-तट पर भी प्रयाग से लेकर यमुनोत्री तक उन्होंने अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये। इन सभी यज्ञों में उन्होंने अपार धनराशि का दान किया था। दुष्यन्त-

"ऋषियों ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर भारतवर्ष रखा था।"[1]

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने स्पष्ट लिखा है: "भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।"[2] राजराजा डा० श्यामबिहारी मिश्र, डी० लिट्० तथा रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र ने 'बुद्ध पूर्व का भारतीय इतिहास' पुस्तक में सातों ही मनुओं का सविस्तार विवेचन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में दो स्थानों पर विशेष बल देते हुए लिखा है: "ऋषभदेव के पुत्र महाराजा भरत हुए, जिनके नाम पर देश भारतवर्ष कहलाया।"[3] स्वायम्भुव मनु की वंश-परम्परा के बीच वे लिखते हैं: "भारत नाम भरत पर पड़ा।"[4]

---

१. प्राचीन भारत, पृ० ५

२. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १२९

३. अध्याय ५, पृ० ७४

४. अध्याय ४, पृ० २८

पूर्व तथा उनके समय इस देश का नाम भारतवर्ष था। ऋषभ-पुत्र भरत अयोध्या की वंश-परम्परा से सम्बद्ध हैं, तथा पुरु से सहस्रों वर्षों पूर्व हो चुके हैं। शतपथ ब्राह्मण में सूर्यवंशी भरत के नाम पर भारतवर्ष के नामकरण का उल्लेख मिलता है। इन विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण नहीं हुआ है, बल्कि ऋषभ-पुत्र के नाम से हुआ है। 'वैदिक एज'[1] पुस्तक में इस सम्बन्ध में चर्चा की गई है, पर, वहां लेखक ने अपना कोई मत व्यक्त न कर, केवल इतना ही उल्लेख किया है कि कुछ व्यक्तियों की धारणा है—दुष्यन्त-पुत्र भरत ने इस देश के साथ अपना नाम संयोजित किया, जो आगे चलकर भारतवर्ष के नाम से विश्रुत हुआ। वहां केवल इस विषय को छुआ ही गया है।

भारत के प्राचीन राजवंश[2], जैन एन्टीक्वेरी[3] में ऋषभ-पुत्र के नाम पर भारतवर्ष नाम पड़ा, यह मान्यता पुष्ट की गई है। श्री जे० स्टीवेन्सन[4] ने कल्पसूत्र की भूमिका में इस विषय को सप्रमाण विश्लिष्ट करते हुए विश्वास-पूर्वक यही स्वीकार किया है कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ। काशी विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के प्राध्यापक श्री गंगाप्रसाद एम० ए० लिखते हैं :

---

१. According to some accounts, Bharata gave his name to our country which was henceforth colled Bharatavarsha. —The Vebic Age, P.292

२. भाग २, पृ० १-२

३. VOL IX, P. 79

४. Brahmanical puranas prove Rishabha to be the father of that Bharata, from whom India took to name Bharatavarsh.

—Kalpasutra, Intro P. XVI

"ऋषियों ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर भारतवर्ष रखा था।"[1]

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने स्पष्ट लिखा है: "भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।"[2] राजराजा डा० श्यामबिहारी मिश्र, डी० लिट्० तथा रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र ने 'बुद्ध पूर्व का भारतीय इतिहास' पुस्तक में सातों ही मनुओं का सविस्तार विवेचन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में दो स्थानों पर विशेष बल देते हुए लिखा है: "ऋषभदेव के पुत्र महाराजा भरत हुए, जिनके नाम पर देश भारतवर्ष कहलाया।"[3] स्वायम्भुव मनु की वंश-परम्परा के बीच वे लिखते हैं: "भारत नाम भरत पर पड़ा।"[4]

---

१. प्राचीन भारत, पृ० ५
२. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १२६
३. अध्याय ५, पृ० ७४
४. अध्याय ४, पृ० २८

"'भारत' लोग लूट लिये गये और दास बना लिये गये।"[1]

"'भारत' त्रत्सु के शत्रु थे।"[2]

ऋग्वेद के अनुसार 'भारत' जाति भारतवर्ष की प्राचीनतम व प्रसिद्ध जाति है और वह अपने में किसी महत्त्वपूर्ण इतिहास व वंश-परम्परा को समेटे हुए है।

महाभारत भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं का महाग्रन्थ है। सहज ही यह प्रश्न होता है कि इसे महाभारत क्यों कहा गया? इस प्रश्न का निरसन करते हुए महर्षि व्यास स्वयं कहते हैं: "इस ग्रन्थ में भारतवंशी क्षत्रियों के महान् वंश का वर्णन किया गया है; अतः वह महाभारत कहा जाता है।"[3]

जातियों की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए महाभारत में आगे कहा गया है: "मनु के दो पुत्र हुए—देवभ्राट् और सुभ्राट्। सुभ्राट् के तीन पुत्र हुए—दशज्योति, शतज्योति और सहस्रज्योति। ये तीनों ही प्रजावान् और विद्वान् थे। दशज्योति के दस हजार, शतज्योति के एक लाख और सहस्रज्योति के दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए। इन्हीं से कुरु, यदु, भरत, ययाति और इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों के वंश चले। बहुत से वंशों और प्राणियों की सृष्टि की यही परम्परा है।"[4]

श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ६, अ० २०-२१ में राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत की वंश-परम्परा का सविस्तार वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि भरत के तीन पत्नियां थीं। अपने पुत्रों को अपने अनुरूप न जानकर भरत ने जब पत्नियों को स्पष्ट उत्तर दे दिया, तो उन्होंने इस भय से कि

---

१. ऋग्वेद ७. २. १६. ६.

२. ऋग्वेद ६. २. १. ४. और ६. २. १. ५

३. भरतानां महज्जन्म महाभारत उच्यते।-महाभारत, आदि पर्व, ६२।३६

४. महाभारत, आदि पर्व

"'भारत' लोग लूट लिये गये और दास बना लिये गये।"[1]

"'भारत' त्रत्सु के शत्रु थे।"[2]

ऋग्वेद के अनुसार 'भारत' जाति भारतवर्ष की प्राचीनतम व प्रसिद्ध जाति है और वह अपने में किसी महत्त्वपूर्ण इतिहास व वंश-परम्परा को समेटे हुए है।

महाभारत भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं का महाग्रन्थ है। सहज ही यह प्रश्न होता है कि इसे महाभारत क्यों कहा गया? इस प्रश्न का निरसन करते हुए महर्षि व्यास स्वयं कहते हैं: "इस ग्रन्थ में भारतवंशी क्षत्रियों के महान् वंश का वर्णन किया गया है; अतः वह महाभारत कहा जाता है।"[3]

जातियों की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए महाभारत में आगे कहा गया है: "मनु के दो पुत्र हुए---देवभ्राट् और सुभ्राट्। सुभ्राट् के तीन पुत्र हुए---दशज्योति, शतज्योति और सहस्रज्योति। ये तीनों ही प्रजावान् और विद्वान् थे। दशज्योति के दस हजार, शतज्योति के एक लाख और सहस्रज्योति के दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए। इन्हीं से कुरु, यदु, भरत, ययाति और इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों के वंश चले। बहुत से वंशों और प्राणियों की सृष्टि की यही परम्परा है।"[4]

श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ६, अ० २०-२१ में राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत की वंश-परम्परा का सविस्तार वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि भरत के तीन पत्नियां थीं। अपने पुत्रों को अपने अनुरूप न जानकर भरत ने जब पत्नियों को स्पष्ट उत्तर दे दिया, तो उन्होंने इस भय से कि

---

१. ऋग्वेद ७. २. १६. ६.

२. ऋग्वेद ६. २. १. ४. और ६. २. १. ५

३. भरतानां महज्जन्म महाभारत उच्यते।-महाभारत, आदि पर्व,६२।३६

४. महाभारत, आदि पर्व

वर्णन करने के अनन्तर लिखते हैं : "यह प्रदेश कई वैदिक जनों में बंटा हुआ था, जिनमें से कुछ प्रधान जनों के नाम मिलते हैं—जैसे, गांधारी, मूज-वन्त, अनु, द्रुह्यु और तुर्वश, पुरु और भरत।"[1] यहाँ पुरु और भरत; दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख यह भली-भान्ति प्रमाणित करता है कि भारत जाति दुष्यन्त-पुत्र भरत से कई शताब्दियों पूर्व भी यहाँ विद्यमान थी। डा० मुकर्जी आगे और स्पष्ट लिखते हैं : "ऋग्वेद कालीन जनों में भरतों के अतिरिक्त पुरु भी महत्त्वपूर्ण थे। वे दोनों आगे चलकर कुरुओं में मिल गये।"[2] इन आधारों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि भारत जाति का अपना बहुत प्राचीन इतिहास है और यह असंदिग्ध रूप से ऋषभ-पुत्र भरत एक प्रमुख शाखा है।

---

१. हिन्दू सभ्यता, पृ० ७२
२. हिन्दू सभ्यता, पृ० ७३

स्वायम्भुव मनु

- प्रियव्रत
  - अग्नीध्र (१)
    - नाभि (१)
      - ऋषभ
    - किंपुरुष (२)
    - हरिवर्ष (३)
    - इलावृत्त (४)
    - रम्यक् (५)
    - हिरण्मय (६)
    - कुरु (७)
    - भद्राश्व (८)
    - केतुमाल (९)
  - अग्निबाहु (२)
  - वपुष्मान् (३)
  - द्युतिमान् (४)
  - मेधा (५)
  - मेधातिथि (६)
  - भव्य (७)
  - सवन (८)
  - ज्योतिष्मान् (९)
  - पुत्र (१०)
- उत्तानपाद
  - ध्रुव

—विष्णु पुराण, अंश २, अध्याय १ के आधार पर